१९९४-22

# शोधादर्श

२२

प्रकाशक :
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मार्च १९९४

**संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डा० ज्योति प्रसाद जैन**
**प्रबन्ध सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन,**
मन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०,
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
**सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन**

## ★ विषय-क्रम ★


| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | गुरुगुण-कीर्तन : जटासिंहनन्दि | —श्री रमाकान्त जैन | १ |
| २. | आवश्यकता है धर्म को जीवन से जोड़ने की | —डा० ज्योति प्रसाद जैन | ४ |
| ३. | सम्पादकीय<br>आगम और अवर्णवाद-एक चिन्तन | –श्री अजित प्रसाद जैन | ७ |
| ४. | 'कलिकाल सर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र सूरि | —श्रीमती जैनमती जैन | १७ |
| ५. | 'ध्यान' पर ध्यान ? | —श्री एम.एल. जैन | २३ |
| ६. | काशहृदगच्छ का इतिहास : एक अध्ययन | —डा० शिव प्रसाद | २६ |
| ७. | महाकवि रामचन्द्र सूरि :<br>व्यक्तित्व एवं कृतित्व | —डा० कृष्णपाल त्रिपाठी | ३४ |
| ८. | 'वसंत विलास' में वर्णित धार्मिक तथ्य | —डा० केशव प्रसाद गुप्त | ४८ |
| ९. | सन् १९२० के दशक की एक लघु<br>तीर्थयात्रा—एक संस्मरण | —श्री अजित प्रसाद जैन | ५६ |
| १०. | गोपाचल-इतिहास के आलोक में | —श्री रामजीत जैन | ६० |
| ११. | 'अग्रवाल' शब्द की प्राचीनता | —श्री वेद प्रकाश गर्ग | ६३ |
| १२. | अग्रवाल जाति का उद्भव | —डा० शशि कान्त | ६५ |
| १३. | जैन दर्शन के तीन अकार : अहिंसा,<br>अनेकान्त और अपरिग्रह | –डा० हुकुम चन्द्र जैन भारिल्ल | ७० |
| १४. | साहित्य सत्कार | —श्री अजित प्रसाद जैन | ७४ |
| | | —डा० शशि कान्त | ७६ |
| १५. | समाचार विमर्श | —श्री अजित प्रसाद जैन | |
| | धूम महा-महोत्सवों की | | ८४ |
| | नेपाल में दो तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक तीर्थ की स्थापना | | ८९ |
| | सल्लेखना भंग कराई गई | | ९० |
| | तीस-चौबीसी मन्दिर का शिलान्यास | | ९१ |
| | जब मुनियों ने सामूहिक अनशन किया | | ९२ |
| | आचार्य पद त्याग | | ९३ |


(शेष कवर पृष्ठ ३ पर)

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में स्वयं लेखक उत्तरदायी हैं।

णाणंणरस्स सारं-सच्चं लोयम्मि सारभूयं

# शोधादर्श-२२

वीर निर्वाण संवत् २५२० मार्च १९९४ ई०

## गुरुगुण-कीर्तन

### जटासिंहनन्दि

काव्यानुचिन्तने यस्य जटा प्रबलवृत्तयः ।
अर्थानस्मान् वदन्तीव जटाचार्यः स: नोऽवतात् ।।[1]

भावार्थ— काव्यों के अनुचिन्तन में जिनकी जटारूप प्रबल (युक्तिपूर्ण) वृत्तियां (टीकाएं) हमको (उनका) अर्थ बतलाती (समझाती) हैं वह जटाचार्य हमारी रक्षा करें।

वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक् ।
कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम् ।।[2]

भावार्थ—सुन्दर अङ्गों वाली अर्थात् सुन्दरी अपने सब अङ्गों—हस्त, पाद, मुख आदि द्वारा जिस प्रकार अपने प्रति दिखाई पड़ने वाला गाढ़ अनुराग (प्रेम) किस व्यक्ति के मन में उत्पन्न नहीं करती अर्थात् सभी के मन में अनुराग जगाती है। उसी तरह **वराङ्गचरित** की अर्थ पूर्ण वाणी छन्द, अलङ्कार, रीति आदि काव्य के सभी अङ्गों द्वारा सभी सहृदय काव्य रसिकों के हृदय में अपने प्रति दिखाई पड़ने वाला गाढ़ अनुराग उत्पन्न करती है।

मुणि महसेण सुलोयणु जेण पउमचरिउ मुणि रविसेणेण ।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिल मुणिणा वरंगचरित्तु ।।[3]

भावार्थ—जिस प्रकार मुनि महासेन द्वारा **सुलोचना (चरित)**, मुनि रविषेण द्वारा **पद्मचरित**, जिनसेन द्वारा पवित्र **हरिवंश (पुराण)** और जटिल मुनि द्वारा **वराङ्गचरित** की रचना की गई।

ऊपर उद्धृत प्रथम श्लोक में स्वामी वीरसेन (७१०-७९० ई०) के शिष्य जिनसेन स्वामी (प्रथम) (लगभग ७७०-८५० ई०) द्वारा अपने **आदिपुराण** में

जिन 'जटाचार्य' का तथा तृतीय श्लोक में ११वीं शती ईस्वी में हुए कवि धवल द्वारा अपने अपभ्रंश **हरिवंशपुराण** में जिन 'जटिल मुनि' का सादर स्मरण किया गया है, वे अभिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि ७८३ ई० में जिनसेन सूरि पुन्नाट द्वारा रचित **हरिवंशपुराण** से ऊपर उद्धृत द्वितीय श्लोक में **वराङ्गचरित** के कर्त्ता का नामोल्लेख नहीं है, कवि धवल ने जडिल (जटिल) मुनि को उसका रचयिता सूचित किया है और इसकी पुष्टि उद्योतन सूरि द्वारा शक संवत् ६९९ (७७८ ई०) में पूर्ण की गई **कुवलयमाला** के निम्नलिखित पद से भी होती है—

**जेहि कए रमणिज्जे वरंग–पउमाण–चरिय वित्थारे।**
**कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय–रविसेणे॥** ६/४१

चामुण्डराय (९७८ ई०) ने अपने **चामुण्डपुराण** में भी आचार्य जटासिंहनन्दि को **वराङ्गचरित** का रचयिता सूचित किया है।

उपर्युक्त जिनसेन (प्रथम), जिनसेन सूरि पुन्नाट, उद्योतन सूरि, कवि धवल, गंग नरेश राचमल्ल के मन्त्री एवं सेनापति चामुण्डराय के अतिरिक्त कन्नड कवि पम्प (१०वीं शती ईस्वी), कन्नड कवि नयमेन (१२वीं शती ई०), पार्श्वपण्डित (१२०५ ई०), महाकवि जन्न (१२०९ ई.), गुणवर्म (१२३० ई.), कमलभव (१२३५ ई०) एवं कवि महाबल (१२५४ ई०) द्वारा भी अपनी कृतियों में **वराङ्गचरित** या जटाचार्य अथवा दोनों का सादर स्मरण किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

यद्यपि **वराङ्गचरित** अपने ग्रन्थकार का परिचय देने में मौन है और ग्रन्थ की रचना का समय भी ग्रन्थ में अंकित नहीं है, परवर्ती साहित्यकारों द्वारा इनका स्मरण संस्कृत **पद्मचरित** (महावीर निर्वाण संवत् १२०३ अर्थात् ६७६ ई०) के रचयिता कवि रविषेण के साथ किन्तु उनके उपरान्त किये जाने तथा महाकवि भारवि के संस्कृत महाकाव्य **किरातार्जुनीयम्** का प्रभाव इनके ग्रन्थ में लक्षित होने जैसे बाह्य साक्ष्यों के आधार पर डा० ज्योति प्रसाद जैन ने ग्रन्थकर्ता जटासिंहनन्दि, जटाचार्य अथवा जटिल मुनि का समय ७वीं शती ईस्वी अनुमानित किया है, और जटासिंहनन्दि, जटाचार्य और जटिल को एक ही व्यक्ति मानते हुए उनके ग्रन्थ **वराङ्गचरित** को चरित्र-चित्रण विधा के संस्कृत पौराणिक काव्यों में एक उत्कृष्ट और कदाचित सबसे प्राचीन उपलब्ध कृति बताया है।[4] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने उनका समय ७वीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध एवं ८वीं शती ईस्वी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया है।[5]

आन्ध्र प्रदेश में कोपल (अथवा कोपण) ग्राम, जो मध्ययुग में प्रतिष्ठित जैन केन्द्र रहा था, के समीपवर्ती पल्लकीगुण्डु नामक पहाड़ी पर सम्राट अशोक का एक अभिलेख मिला है और इसके निकट दो पद-चिन्ह बने हुए बताये जाते हैं। उन पद-चिन्हों के ठीक नीचे पुरानी कन्नड भाषा में एक लेख इस आशय का अंकित बताया जाता है कि "चावय्य ने जटासिंहनन्द्याचार्य के पदचिन्हों को तैयार कराया।" उक्त लेख के आधार पर डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने जटासिंहनन्दि द्वारा कोप्पल ग्राम में जीवन के अन्तिम दिन बिताने और वहीं समाधि-मरण करने का अनुमान लगाया था, तथा परवर्ती कन्नड साहित्य में इस कवि के बारे में आये विविध उल्लेखों तथा वराङ्गचरित में आये कतिपय वर्णनों के आधार पर उन्होंने जटासिंहनन्दि के दक्षिणात्य होने की संभवाना व्यक्त की थी।[6]

महाभारत कालीन २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ और श्री कृष्ण के समकालीन वराङ्ग नामक धीरोदात्त नायक के चरित का वर्णन करने वाला, महाकाव्य के सभी लक्षणों से युक्त किन्तु ३० के बजाय ३१ सर्गों में संस्कृत भाषा में निबद्ध पौराणिक महाकाव्य **वराङ्गचरित** यद्यपि जटासिंहनन्दि अपरनाम जटाचार्य अपरनाम जटिलमुनि की अब तक ज्ञात एवं उपलब्ध एक-मात्र कृति, है इन्होंने उसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की रचना भी की होगी, इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसा कि जिनसेन प्रथम के **आदिपुराण** में उल्लिखित ऊपर उद्धृत प्रथम श्लोक से भी ध्वनित होता है, इन्होंने कतिपय काव्य ग्रन्थों की टीकाएं भी रची होंगी जिनके माध्यम से काव्य-रसिक पाठक सम्बन्धित काव्यों का सरलता से रसपान करने में समर्थ हुए होंगे। **वराङ्गचरित** की प्रौढ़ता, उसमें प्रसंगवश आये सैद्धान्तिक वर्णनों तथा परवर्ती कवि योगेन्द्र द्वारा रचित **अमृताशीति** में **वराङ्गचरित** में अप्राप्य किन्तु जटासिंहनन्दि के नाम से आये हुए निम्नलिखित उद्धरण—

**जटासिंहनन्द्याचार्यवृत्तम्**
**तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते यावद्द्वैतस्य गोचरं।**
**अद्वये निष्फले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुतः क्रिया॥**

के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री भी इस मत के रहे कि **वराङ्गचरित** के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनायें भी जटासिंहनन्दि की होनी चाहियें।

(शेष पृष्ठ ४ पर)

# आवश्यकता है धर्म को जीवन से जोड़ने की

**–डा० ज्योति प्रसाद जैन**

[डाक्टर साहब के कागजों में उनके निम्नलिखित उद्‌गार लिपिबद्ध मिले जो उन्होंने अपने चतुर्दिक वातावरण से क्षुब्ध होकर १९७० के दशक में व्यक्त किये थे। इन्हें इस आशा से प्रकाशित किया जा रहा है कि संभव है कि जैन समाज के प्रबुद्ध मनीषी कुछ सोचने के लिये प्रेरित हों और जैन धर्म-दर्शन-सिद्धान्त-आचार के समग्र अवर्णवाद को रोकने की दिशा में समुद्यत हों ताकि धर्म पुनः सदाचरणयुक्त जीवन से जुड़ सके।–शशि कान्त]

वर्तमान युग में धर्म-तत्त्व का एक अजीब अवमूल्यन होता जा रहा है। जहाँ-तहाँ सर्वत्र यह प्रश्न उभरता आ रहा है कि क्या धर्म आवश्यक है? क्या

---

(पृष्ठ ३ का शेष)

**वराङ्गचरित** के डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सन् १९३८ में तथा बाद में प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला द्वारा सम्पादित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

**सन्दर्भ :–**

१. **आदिपुराणम्**, प्रथम पर्व, श्लोक ५०। पं० पन्नालाल जैन द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ, द्वारा १९६३ ई० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण में रेखांकित 'अर्थानस्यान् वदन्तीव' शब्दों के स्थान पर 'अर्थान् स्यानुवदन्तीव' शब्द मुद्रित हैं जो मुद्रण त्रुटि प्रतीत होते हैं।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २९२ पर रेखांकित 'काव्यानुचिन्तने' शब्द का पाठान्तर 'काव्यानुचिन्तते' मुद्रण त्रुटि प्रतीत होता है।

२. **हरिवंशपुराण**, प्रथम सर्ग, श्लोक ३५

३. रेखांकित 'महसेण' शब्द डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के पूर्वोक्त ग्रन्थ/पृष्ठ पर उद्‌धृत श्लोक में 'महसेणु' मुद्रण त्रुटि प्रतीत होता है।

४. The Jaina Sources of the History of Ancient India, पृष्ठ १८१

५. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, खण्ड २, पृष्ठ २९३-९४

६. दृष्टव्य, डा० उपाध्ये द्वारा संपादित **वराङ्गचरित** की भूमिका

**–रमा कान्त जैन**

वह व्यर्थ की, निरर्थक वस्तु नहीं है ? आधुनिक साम्यवाद के प्रस्तोता कार्ल मार्क्स ने तो धर्म की तुलना अफीम से की है। उसके अनुसार जिस प्रकार अफीम का सेवन मनुष्य की विचार शक्ति को कुंठित और उसकी कार्यक्षमता को शिथिल कर देता है, वह एक अजीब नशे में डूब कर निष्क्रिय हो जाता है, उसी प्रकार धर्म भी मनुष्य को अकर्मण्य बना देता है—धर्म के अफीमी नशे में डूबा व्यक्ति विवेकपूर्ण स्वतंत्र विचार के योग्य नहीं रहता, उसकी सोचने-विचारने की शक्ति समाप्त हो जाती है। कोई-कोई धर्म को स्त्रियों की मूर्खता मात्र समझते हैं, तो कुछ दूसरे स्पष्ट चिन्तन का शत्रु। इस प्रकार आज के अनेक विचारक धर्म को मनुष्य की स्वतंत्रता, प्रगति और विकास में सबसे बड़ी बाधा घोषित करते हैं। समस्त अन्धविश्वासों, वैर-विरोध, साम्प्रदायिक वैमनस्य, फूट, विघटन आदि का सेहरा धर्म के सिर बांधा जाने लगा है। इतना ही नहीं, नाना प्रकार के दुराचार, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार और भ्रष्टाचार का श्रेय भी धर्म को ही दिया जाता है। अनेक वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक बुराइयों के लिये भी धर्म को ही दोषी ठहराया जाता है। फलतः नई पीढ़ी के युवक-युवतियां धर्म के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा ही नहीं, उसका उपहास भी, और कभी-कभी उससे घृणा भी, करते देखे जाते हैं। अधार्मिक या धर्म-विरोधी कहलाने में वे एक प्रकार का गर्व अनुभव करते हैं।

आज के तथा-कथित धर्मात्माओं और महात्माओं ने भी, जिनकी इधर एक बाढ़-सी आ गयी है, धर्म को बदनाम करने में पर्याप्त योग दिया है। पहले से ही संसार में अनेक धर्म और उनसे प्रसूत अनगिनत मतमतान्तर, सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय और पन्थ विद्यमान थे। अब अनेक नई दुकानें भी खुल गई हैं। वातानुकूलन आदि समस्त आधुनिक सुख-सुविधाओं से युक्त, महर्घ राजसी साज-सज्जा से सुसज्जित अपनी आश्रम-रूपी दुकानों में, पश्चिम की शब्दावली द्वारा, अपने देशी-विदेशी स्त्री-पुरुष ग्राहको को सम्मोहित करके धर्म के ये नये ठेकेदार अपने धर्म रूपी पण्य का जोर-शोर से, धड़ल्ले के साथ, विक्रय कर रहे हैं। राजसी ठाठ से रहने वाले ये महर्षि, महात्मा, आचार्य, योगिराज, भगवान, माताजी, पिताजी आदि मानवदेहधारी ईश्वर-ईश्वरनियां उत्तमोत्तम मोटरकारों एवं वायुयानों में अपने गणों सहित यात्रा करते हैं। भारतवर्ष के बाहर यूरोप, अमरीका आदि सम्पन्न विदेशों में भी उनके प्रतिष्ठानों की अपनी-अपनी शाखाएं हैं। इन नवीन मतों में भोगोपभोगों एवं विलासिता की उन्मुक्त छूट है, त्याग का कोई महत्व नहीं है, तप-संयम निरर्थक कायक्लेश एवं मनक्लेश

समझे जाते हैं, वे शरीर और मन पर अनिष्टकर अत्याचार माने जाते हैं। योग और ध्यान को एक सर्वथा बाजारू चीज बना दिया गया है। गुरुडम का बोल-बाला है। श्रद्धा और आस्था किन्हीं शाश्वत मूल्यों अथवा आदर्शों के प्रति नहीं, किन्हीं देवी-देवताओं के प्रति भी नहीं, केवल तत्तद गुरु या गुरुनी के प्रति होना अलम् है। 'बाबा वाक्यं केवलम्' गुरुमंत्र सर्वोपरि है, और वह नितांत वैयक्तिक, गुप्त एवं अत्यन्त रहस्यमयी है। गुरु और उसके मत के प्रचार के लिये विज्ञापन-बाजी के समस्त आधुनिक साधनों का प्रयोग किया जाता है। चमत्कार, प्रदर्शन, विज्ञापन, संभव हुआ तो लक्ष्य व अलक्ष्य रूप में राजनीतिक अथवा शासकीय प्रभाव भी, प्राय: व्यापारिक ढंग पर प्रयुक्त होते हैं।

सनातन धर्मों एवं विचारधाराओं का परम्परया प्रतिनिधित्व करने वाले साधु-साध्वियों, गुरु-गुरुनियों, धर्माचार्यों एवं तथा-कथित धर्मात्माओं पर भी यह छूत का रोग तीव्र गति से आक्रमण कर रहा है। अनेक दिशाओं एवं बातों में वे इन नवीन गुरुओं का अनुकरण कर रहे हैं, अतएव अपने आदर्श एवं लक्ष्य से यदि वे भ्रष्ट होते जा रहे हों तो क्या आश्चर्य? जिनमें इस प्रकार के अनुकरण की क्षमता नही है, वे भी धर्म की आत्मा से दूर जा पड़े दिखाई देते हैं, और धर्म के कलेवर, बल्कि शव, से लिपटे, स्थिति पालक, रूढ़िवादी, गतानुगतिक, संकीर्ण हृदय और असहिष्णु ही प्राय: दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी कथनी और करनी में आकाश-पाताल का अन्तर होता जाता है। धर्मज्ञ कहे जाने वाले पण्डितजन भी या तो सूक्ष्म एवं गहन सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक उलझनों को लेकर एक-दूसरे के खण्डन-मण्डन में द्राविड़ीय प्राणायाम और बौद्धिक व्यायाम करते नजर आते हैं, अथवा सड़े-गले समयातीत रीति-रिवाजों, क्रिया-कांडों एवं अन्ध-विश्वासों का ढोल पीटते दीख पड़ते हैं। मजा यह है कि अपने सिवा वे अन्य सभी को मिथ्यादृष्टि, नास्तिक, पापी, बेईमान और काफिर कहते हैं। एसे ही स्वयं भूत धर्मात्माओं को लक्ष्य करके एक शायर ने कहा है—

सब तेरे सिवा काफिर, आखिर इसका मतलब क्या?
सिर फिरा दे जो इंसा का ऐसा खब्ते मजहब क्या?

धर्म तो वास्तव में मानव का सर्वतो मुखी उन्नयन करने वाला तत्त्व है, और व्यवहार में पूर्णतया नैतिकता-प्रधान है। एक उक्ति है कि "नैतिकताविहीन कोई धर्म नहीं और धर्म से पृथक नैतिकता का कोई अस्तित्व नहीं।" जो धर्म (शेष पृष्ठ ७ पर)

# सम्पादकीय

## आगम और अवर्णवाद–एक चिन्तन

गत दिसम्बर १९९३ में श्रवणबेलगोला में सम्पन्न गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि के द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक में श्री दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के अध्यक्ष द्वारा यह मांग की गई थी कि अभिषेक के लिये **कलश आवंटन केवल दिगम्बर जैनों को हो तथा उनमें भी केवल उन्हें किया जाय जिनका पिण्ड शुद्ध हो एवं जिन्होंने विजातीय या विधवा विवाह आदि आगम विरुद्ध कार्य न किया हो**; अन्य को अभिषेक करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। हमने इस मांग की समीक्षा **शोधादर्श**–२१ के पृष्ठ १६-१९ पर "श्री बाहुबलि महामस्तकाभिषेक विमर्श" के अन्तर्गत की थी। इसका "श्री सेठी उवाच" शीर्षक से एक स्वतंत्र लेख के रूप में प्रकाशन **समन्वय वाणी, दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका, वीर** तथा मराठी पत्रिका **धर्म मंगल** में भी हुआ। जहाँ हमें कई प्रबुद्ध मनीषियों के पत्र इस लेख की सराहना व समर्थन में प्राप्त हुए हैं वहीं इसकी कुछ तीखी प्रतिक्रियायें भी हुई हैं।

महासभाई मांग के औचित्य पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए हमने अपने लेख में लिखा था कि दिगम्बर जैन आम्नाय में जिन मूल सिद्धान्त ग्रंथों को **आगम** की संज्ञा प्राप्त है उनमें हमारे सीमित अध्ययन के अनुसार विजातीय या विधवा विवाह निषेध के कोई उल्लेख नहीं मिलते, यह दूसरी बात है कि परवर्ती

---

(पृष्ठ ६ का शेष)

व्यक्ति को कषायी, विषयलोलुप, व्यसनी, ईर्ष्यालु, द्वेषी, निर्दयी, असहिष्णु, स्वार्थपरायण और अनैतिक बनाता है, वह धर्म का मखौल है। और जो धर्म इन दोषों के प्रतिपक्षी प्रशम, संयम, त्याग भाव, प्रेम, सहिष्णुता, दया, उदारता, परसेवा एवं नैतिकता का पोषण करता है, वही सच्चा धर्म है। ऐसा धर्म ही व्यक्ति की एवं समाज की, व्यष्टि और समष्टि की, सुख-शान्ति का वाहक एवं साधक होता है। धर्म के इस स्वरूप को भली प्रकार समझकर अपनी दृष्टि को समीचीन बनाने और आस्थापूर्वक उसे अपने जीवन का अंग बनाने अर्थात् उसे आत्म-सात करने में ही धर्म की सार्थकता है, और तभी उसके सुफल प्राप्त होते हैं। ऐसा करने के लिए अवसर विशेष या परिस्थिति विशेष की अपेक्षा नहीं हैं— जब जागे तभी सवेरा ! ★

भट्टारकीय साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख मिल जाएं। रक्त-पिण्ड की शुद्धता के लिए सज्जातीय विवाह संबंधों के कट्टर पक्षधरों से हमारा कहना था कि श्रमणाचार के मूल ग्रन्थ **मुलाचार** में 'पिण्ड शुद्धि' शब्द का प्रयोग मुनि आहार के प्रसङ्ग में आहार की ४६ दोषों से रहित होने की गवेषणा करने के अर्थों में किया गया है। जाति-रक्त की शुद्धि का पिण्ड-शुद्धि से कोई लेना-देना नहीं है। वैसे भी भगवान महावीर के सर्वोदय तीर्थ में मनुष्य मात्र को पूर्ण आध्यात्मिक विकास के समान अवसर प्राप्त हैं तथा उनके धर्म शासन में चाण्डाल (हरिकेशी मुनि, यमपाल आदि), डाकू-हत्यारे (अर्जुन माली) और कुम्हार (शकडाल), को भी अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष करने में हीन जाति-कुल के कारण कोई बाधा नहीं पड़ी। इस परम उदार जिन शासन में रक्त-पिण्ड की शुद्धि के लिये सज्जातित्व का कोई महत्व नहीं है। हाड़-मांस से बनी सात कुधातुमयी यह औदारिक देह अनेकों पवित्र नदियों में स्नान करने पर भी चिरकाल में भी शुद्ध नहीं हो सकती। इसी लिए मोक्ष मार्ग के साधकों द्वारा इस शरीर की उपेक्षा करने पर जिन शासन में बल दिया गया है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में अपनी अलग सामूहिक विशिष्ट पहचान बनाए रखने के लिए भले ही सज्जातित्व पर जोर दिया जाए और उसमें कोई बुराई भी नहीं है, किन्तु रक्त-पिण्ड की शुद्धि की दुहाई देकर सज्जातित्व की कट्टर पक्षधरता अर्थ हीन है।

रक्त-पिण्ड शुद्धि की रक्षा के लिए सज्जातीय विवाह सम्बन्धों के कट्टर पक्षधरों को यह न भूलना चाहिए कि इस सोच की अन्तिम परिणति स्वपरिवार में ही विवाह सम्बन्ध सीमित रखने (जैसा कि अपने को उच्च कुलीन मानने वाले कुछ मुस्लिम परिवारों में आज भी होता है) व अन्ततः भाई-बहन के परस्पर विवाह में ही फलित होती है जो धीरे-धीरे उस वंश को ही समाप्त कर देती है। इतिहास में मिस्र देश की फरयूनशाही इसी विकृत सोच का शिकार हुई प्रसिद्ध है।

हमारे एक आलोचक ने हम पर आगम को दो भागों में विभक्त करने का आरोप लगाया है—(१) मूल सिद्धान्त ग्रन्थ और (२) परवर्ती टीका साहित्य तथा अन्य मध्य युगीन भट्टारकीय साहित्य।

इस सम्बन्ध में यह विचार करना उचित होगा कि जिन शासन में **आगम** किस को कहा है। हमारे सीमित अध्ययन के अनुसार सर्वज्ञ वीर प्रभु द्वारा अर्थ रूप में उपदेशित तथा गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी प्रभृति गणधरों द्वारा सूत्र

रूप में ग्रंथित **द्वादशांग श्रुत** को ही जिन शासन में **आगम** की संज्ञा दी गई है। यह सम्पूर्ण **श्रुत** श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी पर्यन्त (वीर निर्वाण सम्वत १६२ तक) ही अक्षुण्ण रहा था तथा उनके उपरान्त श्रुतधर आचार्यों की स्मृति-क्षीणता के कारण विच्छिन्न होता चला गया। भद्रबाहु स्वामी के काल-धर्म को प्राप्त होने के उपरान्त **श्रुत** के संरक्षण के प्रयोजन से पाटलिपुत्र में आयोजित श्रुतधर आचार्यों की प्रथम वाचना में **श्रुत** का जो खण्डित, विवादित, प्रक्षिप्त रूप उभर कर सामने आया, उसे दिगम्बर जैन आचार्यों ने मूल **द्वादशांग श्रुत** मानने से इन्कार कर दिया तथा **श्रुत** का विच्छिन्न होना घोषित कर दिया। किन्तु इसके उपरान्त कुछ काल तक भी गणधरादि महान गुरुओं की परम्परा से आगत **श्रुत** के एक-देश ज्ञानधारी ज्योतिर्धर आचार्य विद्यमान रहे जिन्होंने अवशिष्ट **श्रुत** के भी कालान्तर में स्मृति-क्षीणता से विस्मृत एवं विकृत हो जाने की आशंका से, गुरु परम्परा से स्वयं को प्राप्त श्रुतांश को स्वतन्त्र ग्रंथों के रूप में निबद्ध एवं लिपिबद्ध करके उसे विलुप्त होने से बचा लिया। उन महान आचार्यों की अनुकम्पा से मूल **श्रुत** के अंश रूप में जो ग्रंथ आज उपलब्ध हैं उनमें भगवत कुन्द-कुन्दाचार्य कृत **समयसार, नियमसार** व **प्रवचनसार,** आचार्य गुणधर कृत **कषाय पाहुड़**, आचार्य धरसेन द्वारा उपदेशित तथा पुष्पदंत-भूतबलि मुनि द्वारा निबद्ध **षट्खण्डागम,** आचार्य वट्टकेरि कृत **मूलाचार**, आचार्य शिवार्य कृत **भगवती आराधना,** आचार्य यतिवृषभ कृत **तिलोयपण्णत्ति** तथा आचार्य उमा-स्वामि कृत **तत्त्वार्थसूत्र** प्रमुख हैं। इन्हें दिगम्बर जैन आम्नाय में मूल **श्रुत** के अंश रूप में **आगम** की मान्यता प्राप्त है तथा ये ही परवर्ती विशाल जैन वाङ्मय के आधार स्तम्भ हैं। उपरोक्त सूची के अतिरिक्त कुछ और भी मूल सिद्धान्त ग्रंथ हो सकते हैं जो वीर निर्वाण के अधिक से अधिक एक सहस्र वर्ष के भीतर रचे गये हों। एक सहस्र वर्ष समय सीमा से हमारा तात्पर्य यह है कि इसके आगे एक-देश श्रुत-ज्ञानधारी आचार्यों की परम्परा नहीं जाती। **आगम** की परिभाषा के लिए क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** के पृष्ठ २२५-२३० पर दी हुई व्याख्या भी द्रष्टव्य है। यदि **आगम** विषयक हमारी सोच दोष-पूर्ण हो तो विज्ञ पाठक उसे सप्रमाण सुधारकर हमारा ज्ञान वर्द्धन करने की कृपा करें, हम आभारी होंगे।

विधवा विवाह को धर्म-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध एवं हीन मानने वालों की सोच के खोखलेपन को उजागर करने के लिए हम ने अपने लेख में लिखा था कि

मानव समाज में विवाह प्रथा का शुभारम्भ करने वाले भगवान ऋषभदेव के विवाह के विषय में **एक परम्परा यह भी कहती है** कि उनकी एक पत्नि उनकी युगलिया जन्मी बहन (नन्दा या यशस्वती) थी तथा दूसरी पत्नि सुनन्दा थी जिसके युगलिया जन्मे भाई (या पति) की सिर पर ताड़फल गिरने से अकाल मृत्यु हो गयी थी और इस दूसरी पत्नि के साथ ही विधिवत विवाह करके ऋषभ कुमार ने विवाह प्रथा का सूत्रपात किया था। उपरोक्त उल्लेख हमने श्वेताम्बर जैन परम्परा में संजोई अनुश्रुति के आधार पर किया था। (द्रष्टव्य : **आवश्यक भाष्य,** गाथा २२, ११६ व १२०; आचार्य हेमचन्द्र कृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित,** आचार्य हस्तीमल कृत **जैन धर्म का मौलिक इतिहास,** प्रथम खण्ड, तथा युवाचार्य महाप्रज्ञ कृत **ऋषभायण**)। श्वेताम्बर आम्नाय में संजोई हुई अनुश्रुति दिगम्बर आम्नाय की मान्यता के अनुकूल न होने मात्र से ही अचिन्तनीय नहीं हो जाती क्योंकि श्वेताम्बर परम्पराएं भी प्राय: उतनी ही प्राचीन हैं जितनी कि दिगम्बर परम्पराएं। दोनों का मूल स्रोत तो **द्वादशांग श्रुत** ही है।

दिगम्बर जैन परम्परा में सुनन्दा के भाई का नाम महाकच्छ दिया है। यह ध्यान देने योग्य है कि सुनन्दा के पिता के नाम के विषय में पुराणकार मौन हैं।

भगवान ऋषभदेव की एक पत्नि उनकी युगलिया जन्मी बहन थी, इस के विरोध में कहा गया है कि कालजन्य युगलिया व्यवस्था ग्यारहवें कुलकर के समय तक ही चली क्योंकि **हरिवंशपुराण** के सर्ग ७ के श्लोक १६६ में स्पष्ट रूप में लिखा है कि युगलिया सन्तानोत्पत्ति के क्रम को दूर करने के लिए ही मानों बारहवें कुलकर मरुदेव ने प्रसेनजित् नामक अकेले पुत्र को उत्पन्न किया था। हिन्दी **जैन गजट** के विद्वान सम्पादक लिखते हैं कि प्रसेनजित् के भी एक ही पुत्र नाभिराय हुए जिनका विवाह एक कुलीन कन्या मरुदेवी से हुआ तथा ऋषभदेव उनकी अकेली सन्तान उत्पन्न हुए; ऋषभदेव के कोई बहन नहीं थी।

प्रसेनजित् और ऋषभदेव के कोई युगलिया जन्मी बहन नहीं थी, इसका कोई सीधा प्रमाण **हरिवंशपुराण** या **आदिपुराण** में उपलब्ध नहीं होता तथा यह निष्कर्ष प्राचार्य जी ने कदाचित **हरिवंशपुराण** के उपर्युल्लिखित सर्ग ७ के श्लोक १६६ से निकाला है। किन्तु इसी पुराण के नवम सर्ग के श्लोक २१-२२ का अवलोकन करने से ज्ञात होगा कि युगलिया क्रम एकदम ही समाप्त नहीं हो गया था तथा कुछ अपवादों के साथ कम से कम भगवान ऋषभदेव के समय तक तो चलता ही रहा था क्योंकि उनकी पत्नियों ने भरत-ब्राह्मी तथा बाहुबलि-सुन्दरी

को युगल रूप में जन्म दिया था। यथा—

**भरतानन्दनं नन्दा नन्दनं चक्रवर्तिनम् ।**
**भरताख्यं सुतां ब्राह्मी मपि युग्मप्रसूत सा ॥ २१ ॥**
**सुनन्दा बाहुबलिन महाबाहुबलं सुतम् ।**
**तथैव सुषुवे लोके सुन्दरामपि-सुन्दरीम् ॥ २२ ॥**

अतः यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि नाभिराय व ऋषभदेव के युगलिया जन्मी बहन नहीं थी।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि पुराणों में मरुदेवी के पिता या भाई के नाम का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

हमारा निष्कर्ष है कि इस अवसर्पिणी काल में आदिम मानव समाज को सभ्यता का प्रथम पाठ पढ़ाने वाले अदि पुरुष एवं आदि सुविधिकर्तार भगवान ऋषभदेव को जहां अन्य अनेक कार्यों के प्रथम बार करने का श्रेय प्राप्त है वहीं विवाह प्रथा का शुभारम्भ करने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। इसके विरोध में **महापुराण** के निम्नलिखित श्लोक के प्रमाण से यह कहा गया है कि प्रथम विवाह तो उनके माता-पिता नाभिराय-मरुदेवी का हुआ था। यथा—

**तस्या किल समुद्वाहे सुर राजेन चोदिता ।**
**सुरोत्तमा महाभूत चक्रु, कल्याणकौतुकम् ॥ ५९ ॥ पर्व १२**

[अर्थात्, उक्त (मरुदेवी) का विवाहोत्सव इन्द्रादिक देवों ने बड़ी विभूति से किया।]

इस श्लोक से यह ध्वनि नहीं निकलती कि इस विवाहोत्सव में मनुष्यों ने भी भागीदारी की थी। हमें **महापुराण** व **हरिवंश पुराण** में अन्यत्र भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिला जिससे ज्ञात होता हो कि नाभिराय-मरुदेवी का विवाह मनुष्यों की साक्षी में हुआ था, और जो उल्लेख मिलते हैं, वे केवल यह बताते हैं कि मरुदेवी नाभिराय की रानी थी। यथा—

**अथ नाभेर भूद्देवी मरुदेवीति वल्लभा ।**
**देवी शचीव शक्रस्य शुद्ध सन्तान सम्भवा ॥ ६ ॥ अष्टम सर्ग, हरिवंशपुराण**

[अर्थात्, इसके अनन्तर नाभिराय के मरुदेवी नामक रानी (स्वामिनी) हुई जो शक्र (इन्द्र) की शची (इन्द्राणी) के समान देवी थी और शुद्ध (सर्वांगपूर्ण

निरोग) सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ थी।] तथा—

**तस्यासीन्मरुदेवीति देवीव सा शची।**

**रूप लावण्य कान्ति श्री मति द्युति विभूतिभि ॥ १२ ॥ पर्व १२, महापुराण**

[अर्थात्, उनकी मरुदेवी नामक देवी थी जो शची (इन्द्राणी) के समान रूप, लावण्य, कान्ति, श्री, मति, द्युति विभूतियों से युक्त थी।]

उपरोक्त सभी उल्लेखों से हमारे इस निष्कर्ष को कोई बाधा नहीं पहुंचती कि **भगवान ऋषभदेव का विवाह ही मनुष्यों की साक्षी में हुआ प्रथम विवाह था,** वरन् उनसे परोक्ष रूप से इस निष्कर्ष की पुष्टि ही होती है।

स्याद्वाद-वारिधि, वादि-गज-केसरी, न्याय-वाचस्पति आदि उपाधियों से विभूषित स्व० पं० गोपालदास जी बरैया इस शती के प्रथम चरण के ऐसे बहुश्रुत दिगम्बर जैन विद्वान थे जिनका शिष्य-प्रशिष्य कहलाने में पं० मक्खन लाल जी शास्त्री जैसे पिछली पीढ़ी के मूर्धन्य विद्वान अपने को गौरवान्वित मानते थे। सन् १९१०-११ में मेरठ की जजी में चले खतौली के दिगम्बर जैन दस्सा पूजाधिकार मुकदमे के दौरान दस्सों के वकील द्वारा भगवान ऋषभदेव और उनके माता-पिता के सम्बन्ध में किए गये प्रश्न के उत्तर में बरैया जी ने अपनी गवाही में **त्रिलोक सार** आदि प्रमाणिक आर्ष ग्रंथों के आधार पर तीसरे काल की भोग भूमि की व्यवस्था तथा उस काल के स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आदि का विवेचन किया था जिसका निष्कर्ष अदालत के रिकार्ड में यह दर्ज किया गया कि **आदि तीर्थंकर के माता-पिता का तथा उनके भी भोग-भूमिया पूर्वजों का विधिवत् विवाह नहीं हुआ था।** (देखें, **गुरु गोपाल दास बरैया स्मृति ग्रंथ,** पृष्ठ २५-२६)। हमारे लेख में भगवान ऋषभदेव की दूसरी पत्नि सुनन्दा के साथ विवाह के प्रसंग में श्वेताम्बर जैन परम्परा की अनुश्रुति के उल्लेख मात्र से कतिपय मुनि-आर्यिका संघों में खासा हड़कम्प मच गया। आर्यिका रत्न सुपार्श्वमती जी ने कहा है कि "आदिनाथ भगवान के बारे में ऐसा लिखने वाला व्यक्ति **दिगम्बर जैन नहीं कहला सकता।** वर्तमान कालीन साधुओं की निन्दा करते करते आदिनाथ भगवान पर भी आ गये हैं। कल वे महावीर भगवान पर भी अवश्य ही छींटे उछालेंगे व उछाल सकते हैं।...... **इस प्रकार के बेबुनियाद असत्य खोटे-अन्यायसंगत सिद्धांतों का कहीं भी उल्लेख करना नरक गमन का ही कारण है।**" आर्यिका रत्न ज्ञानमती जी ने कहा है कि "विधवा विवाह जैसी निन्द्य बात सिद्ध करने वाले तथाकथित विद्वान को......श्वेताम्बर

मत में ही प्रवेश कर जाना चाहिए। **ऐसा अनर्गल प्रलाप करने वालों को दिगम्बर जैन धर्म में रहने का कोई महत्व नहीं है।**" आचार्यवर वर्द्धमान सागर व इन दोनों आर्यिका रत्नों ने हमें **तीर्थंकर के अवर्णवाद** का दोषी ठहराते हुए **हमारी मनचाही लेखनी को बन्द करने** का दायित्व अपने विद्वानों को सौंपते हुए **जैन गजट, सम्यग्ज्ञान** एवं अन्य उन जैसी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को हमारे लेख का प्रतिकार करने व प्रत्युत्तर देने का आवाहन किया।

मुनि-आर्यिका संघों के अद्भुत आक्रोश की फल श्रुति में **जैन गजट** के विद्वान सम्पादक प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी ने एक सम्पादकीय लेख दिनांक ६ दिसम्बर, १९९३, के **जैन गजट** में "अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग–एक आपत्तिजनक लेख" शीर्षक से लिख मारा जिसमें हम पर खूब व्यंगात्मक छींटाकशी की गयी। इस लेख का प्रत्युत्तर हमने **जैन गजट** के सम्पादक के पास भेज दिया था। पर हमें खेद है कि उन्होंने इसे प्रकाशित करने की सदाशयता नहीं दिखाई। उनकी पुराण-अनुश्रुति आदि से सम्बन्धित प्रतिपत्तियों/आपत्तियों का सप्रमाण विवेचन यहाँ कर दिया गया है। जहां तक उनके द्वारा किये गये व्यक्तिगत आक्षेपों का सम्बन्ध है, उनका समाधान इस लेख के अन्त में कोष्ठक में दिया जा रहा है।

हमारे इस तथ्य-परक विश्लेषण पर कि कदाचित् भगवान ऋषभदेव की एक पत्नि उनकी युगलिया जन्मी बहन रही होगी तथा दूसरी पत्नि जिससे विवाह करके उन्होंने मनुष्य समाज में विवाह प्रथा का सूत्रपात किया कदाचित एक ऐसी बाला थी जिसके भाई (या पति) की अकाल मृत्यु हो गई थी, हम पर तीर्थंकर के अवर्णवाद का दोष लगाया गया है। किन्तु हमारी समझ में विवाह स्त्री-पुरुष के यौनाचार को मर्यादित करने वाली एक सामाजिक व्यवस्था मात्र है जिसका स्वरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल के हिसाब से बदलता रहा है। आदिम युग में भाई-बहन के यौनाचार को प्राकृतिक व्यवस्था मान लिया गया किन्तु विवाह प्रथा के शुभारम्भ से ही मानव समाज में सभ्यता का अरुणोदय हुआ और परिवार का तथा समाज का गठन हुआ। कभी सभ्य समाज में बहु-पत्नित्व एक सामान्य बात थी तथा पत्नियों की संख्या स्वामी के वैभव एवं शौर्य की प्रतीक थी किन्तु आज दो पत्नियों का पति होना भी एक सामाजिक एवं कनूनी अपराध माना जाता है। त्रेता-युगीव पाण्डवीय संस्कृति में बहुपतित्व, यहां तक कि नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति, से भी स्त्री के शील को दोष लगना नहीं माना जाता था (उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले के जौनसर-बावर क्षेत्र के आदिवासी आज भी इस

संस्कृति से चिपके हुए हैं) पर आज के सभ्य समाज में यह अकल्पनीय है। विधवा या परित्यक्ता का पुनर्विवाह कभी किसी काल में भले ही समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता रहा हो किन्तु आज वह कुमारी विवाह के समान ही विधि मान्य है। नारी को समाज में अपनी भूमिका सम्मान पूर्वक निभाने की सुविधा विवाह उपलब्ध कराता है।

हमारी समझ में विवाह के प्रकार से तीर्थंकर के अवर्णवाद का कोई लेना-देना नहीं है। यह तो मात्र एक ऐतिहासिक अन्वेषण-विश्लेषण का विषय है कि भगवान ऋषभदेव के विवाह से विवाह-प्रथा का सूत्रपात हुआ या उनके पिता श्री के विवाह से, तथा क्या उनकी एक पत्नि उनकी युगलिया जन्मी बहन थी व दूसरी एक ऐसी बाला थी जिसके भाई की अकाल मृत्यु हो गई थी। इस विश्लेषण के फिर जो भी निष्कर्ष सामने आयें उनसे तीर्थंकर ऋषभदेव का अवर्णवाद नहीं होता। अवर्णवाद तो अर्हन्त के ४६ गुणों में से एक या अधिक का उद्भव न मानना या १८ दोषों में से किसी की उद्भावना मानने से होता है। विवाह के स्वरूप से न तो तीर्थंकर के ४६ गुणों में कोई हीनता होती है और न ही १८ दोषों में से किसी दोष की उद्भावना ही होती है। अवर्णवाद के दोषी तो हमारी समझ में वे महान धर्मनिष्ठ कहलाने वाले महात्मा हैं जिन्होंने एक आचार्य श्री को **कलिकाल सर्वज्ञ** की उपाधि से अलंकृत करके या उस अलंकरण का मूक या मुखर समर्थन करके कलिकाल में जन्मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ व महावीर तथा सर्वज्ञ-केवली गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी प्रभृति अर्हन्त सर्वज्ञों की ज्ञान-सम्पदा उक्त आचार्य श्री की ज्ञान-सम्पदा के तुल्य अवमूल्यित करके उसका उपहास किया है। अवर्णवाद के दोषी वे श्रद्धालु जन भी हैं जो कतिपय मुनि पदवीधारियों की अर्थ संग्रही, मठाधीशी, यशलोलुपी प्रवृत्तियों को अपने सहयोग से व समर्थन से बढावा देते हैं, तथा ऐसे साधुओं की साधु-परमेष्ठी मान कर पूजा करते है। आर्यिका ज्ञानमती जी को उनका प्रचार-तंत्र जैनों में **सर्वाधिक पूज्य** घोषित कर रहा है। आर्यिकाएं तो साधु-परमेष्ठि की कोटि में भी नहीं आतीं क्योंकि दीक्षा-वृद्ध आर्यिका को सद्य-दीक्षित साधु की वन्दना करनी होती है, तो क्या इस प्रकार के प्रचार से आज सैकड़ों की संख्या में विद्यमान आचार्य व साधु-परमेष्ठियों की अवमानना नहीं होती?

[**जैन गजट** के विद्वान सम्पादक प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी ने हम पर आरोप लगाया है कि हमने अपना "सेठी उवाच" लेख श्री निर्मल कुमार जी सेठी की हेठी करने के उद्देश्य से लिखा है तथा **महासमिति पत्रिका** के सम्पादक

ने भी इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसे **महासमिति पत्रिका** में पुनर्मुद्रित कर दिया।

हम **महासमिति पत्रिका** के सम्पादक के विषय में तो जानते नहीं कि वे सेठी जी की हेठी के चक्कर में कितना रहते हैं किन्तु हमें किसी की भी हेठी करने में कोई रुचि नहीं है, न ही हम किसी पर व्यक्तिगत छींटा-कशी या आक्षेप करना पसन्द करते हैं। सेठी जी की हेठी करने का घ्रणित आरोप हम पर लगाए जाने पर हमें घोर आपत्ति है। हम नहीं समझते कि किसी के विचारों से असहमत होने से तथा विचार वैभिन्य को अभिव्यक्त करने से उसकी हेठी हो जाती है। **जैन गजट** के सम्पादक स्पष्ट करने की कृपा करें कि हमारे लेख के किस अंश से या किन शब्दों से सेठी जी की हेठी हुई है ताकि यदि आवश्यक हो तो हम उनसे क्षमा मांग सकें।

हमने तो महासभा के प्रतिनिधि की हैसियत से सेठी जी द्वारा की गई मांग के औचित्य व व्यवहारिकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए महासभा से अपनी तीन निम्नलिखित शंकाओं का समाधान चाहा था—

(१) इस मांग के महामस्तकाभिषेक समिति द्वारा मान लिए जाने की दशा में, क्या कलश आवंटन के इच्छुक श्रद्धालु उपासकों को महासभा या उसके अध्यक्ष जी से प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना होगा कि उन्होंने उपर्युक्त अयोग्यतायें अर्जित नहीं की हैं ?,

(२) क्या महासभा चाहती है कि अभिषेक महोत्सव समिति अपने अध्यक्ष साहु अशोक कुमार जी को कलश आवंटन से वंचित करे क्योंकि साहु जी स्पष्टतः महासभा द्वारा प्रस्तावित माप दंड पूरा नहीं करते ?, और

(३) क्या महासभा की दृष्टि में उपरोक्त अयोग्यता अर्जित करने से अशुद्ध हुए व्यक्तियों द्वारा अभिषेक किए जाने से गोम्मटेश्वर भगवान की सातिशय प्रतिमा के अपवित्र हो जाने की आशंका है ?

यद्यपि अन्ततः महामस्ताभिषेक समिति द्वारा महासभा की मांग स्वीकार नहीं की गई तथा कलश आवंटन में इस प्रकार का या अन्य कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया तथा केवल द्रव्य संग्रह का ही लक्ष्य रखा गया, महासभाई मांग के औचित्य एवं व्यवहारिकता के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त शंकाओं का समाधान महासभा की ओर से किया जाना आज भी अपेक्षित है, तथा हम आशा करते थे कि महासभा के मुख पत्र **जैन गजट** के सम्पादक होने के नाते प्राचार्य जी अपने सम्पादकीय लेख में हमारी शंकाओं का समाधान अवश्य प्रस्तुत करेंगे। पर उन्होंने तो व्यक्तिगत छींटाकशी करने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान ली !

अभी गत २४ फरवरी को श्री अयोध्या जी तीर्थ क्षेत्र पर आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की ३१ फुट उत्तुंग प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक श्री निर्मल कुमार जी सेठी की अध्यक्षता में तथा आर्यिका रत्न ज्ञानमती जी के मार्गदर्शन में सम्पन्न हुआ है। हमारी समझ में इस महामस्तकाभिषेक में तो महासभा की उपरोक्त मांग के अनुसार कलश आवंटन किए जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए थी तथा महासभा अध्यक्ष जी को पूर्ण दृढ़ता के साथ इस महासभाई मांग को क्रियान्वित करना चाहिए था। किन्तु उपलब्ध जानकारी के अनुसार यहां भी कलश आवंटन में अर्थ संग्रह की विशुद्ध व्यापारिक नीति ही अपनाई गई तथा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया—आखिर क्यों ?

हम महासभा की ओर से अपनी उपर्युल्लिखित शंकाओं के समाधान की आज भी अपेक्षा करते हैं तथा यदि कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया जाता तो यही समझा जाएगा कि महासभा ने अन्ततः अपनी मांग के अनौचित्य एवं अव्यवहारिकता को स्वीकार कर लिया है।

**जैन गजट** सम्पादक हम पर व्यङ्ग करते हुए लिखते हैं कि "ये लेखक महाशय पहले **जैन गजट** के प्रकाशक का दायित्व भी निभाते रहे हैं, तब ऐसा कोई शोध कीटाणु उनके दिमाग में नहीं रेंगा होगा।"– शोध के भी कीटाणु होते हैं जो दिमाग में रेंगते हैं, यह हमें जीवन भर बालकों को पढाते रहे सेवा-निवृत्त हुए प्राचार्य जी से ही पता चला। इस खोज के लिए हम उन्हें बधाई देते है।

प्राचार्य जी ने अपनी उर्वरा कल्पना से जो यह घ्रणित निष्कर्ष हम पर आरोपित किया है कि— "ऋषभदेव ने विधवा विवाह किया था, यह बता कर आगम विरुद्ध विधवा विवाह का समर्थन करना चाहते हैं, यह बात तो समझ में आई किन्तु उनकी एक पत्नि युगलिया जन्मी बहन थी, यह कहकर वे समाज को क्या संकेत देना चाहते हैं ? ··· क्या वह विधवा विवाह के साथ-साथ भाई-बहन के परस्पर विवाह के भी समर्थक है ? · हो सकता है कि समाज में बढ़ती हुई दहेज की मांग ने उनके करुणा पूरित वृद्ध हृदय को व्यथित कर दिया हो और इस कुप्रथा के निराकरण के लिए यह अचूक फार्मूला उनके दिमाग में आया हो। ··इस अटपटी सूझ के लिए उन्हें कोई संस्था पुरस्कृत भी कर सकती है। समाज में प्रगतिशीलों की आज कोई कमी तो है नहीं। आशा है वह शीघ्र ही रहस्य से पर्दा हटाएंगे।" — यह अभूतपूर्व है और मसि-विलाप की एक नई तर्ज है। प्राचार्य जी शिक्षक रहें हैं, अतः हमें आशा है कि वह अपने अनर्गल आक्षेपों/आरोपों के लिए क्षमायाचन नहीं तो कम से कम खेद-ज्ञापन अवश्य करेंगे।]

**–अजित प्रसाद जैन**

# 'कलिकाल सर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र सूरि

–श्रीमती जैनमती जैन

आचार्य हेमचन्द्र एक महान प्रतिभाशाली आचार्य थे। उनके बहु आयामी व्यक्तित्व और पांडित्य से प्रभावित होकर उनके उत्तरवर्ती आचार्यों एवं विभिन्न विद्वानों ने उन्हें विभिन्न उपाधियों से विभूषित किया है। उनसे सम्बन्धित प्रसंग प्रद्युम्न सूरि कृत **प्रभावक चरित** [१२५० ई०], आचार्य मेरुतुंग कृत **प्रबन्ध चिन्तामणि** [१३०५ ई०], राजशेखर कृत **प्रबन्ध कोश** [१३४८ ई०], जिन-मण्डन उपाध्याय कृत **कुमारपाल प्रबन्ध** [१४३५ ई०], सोमप्रभसूरि कृत **कुमार-पाल प्रतिबोध, शतार्थ काव्य,** यशपाल कृत **मोहराज पराजय** एवं हेमचन्द्र कृत **सिद्ध हेम प्रशस्ति [द्वयाश्रय काव्य]** व **महावीरचरित [त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरितं]** में उपलब्ध हैं। उक्त ग्रन्थों के आधार पर असाधारण एवं प्रखर बुद्धि का चमत्कारात्मक रूप से कौशल पूर्ण प्रदर्शन करने वाले हेमचन्द्र के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने स्वतंत्र ग्रन्थ एवं गवेषणात्मक लेख लिखे हैं। इनमें डा० जी० बूह्लर,[1] प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापडिया,[2] श्री मोती चन्द्र गि० कापड़िया,[3] मुनि जिनविजय,[4] पं० बेचर दास दोषी,[5] कस्तूरमल बांठिया,[6] वि० भा० मुसलगाँवकर,[7] मुनि श्री हिमांशु विजय,[8] पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री,[9] डा० मोहनलाल मेहता,[10] डा० जगदीश चन्द्र जैन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, डा० सागरमल जैन,[11] डा० राजाराम जैन,[12] श्री अभय कुमार जैन,[13] डा० प्रेमसुमन जैन[14] प्रभृति प्रमुख विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन किसी विद्वान ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला कि वे 'कलिकाल सर्वज्ञ' क्यों कहलाते थे? **शोधादर्श** की सम्पादकीय[15] ने मेरी जिज्ञासा को और भी प्रज्वलित कर दिया। इसी प्रेरणा से प्रस्तुत लेख लिखा गया है।

वि० सं० ११४५ [१०८८ ई०] की कार्तिक पूर्णिमा, बुधवार, को धन्धुका (गुजरात) निवासी एवं शैव धर्म मतावलम्बी चाचदेव और पाहिणी देवी के घर में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए चांगदेव ही आठ वर्ष की अवस्था में आचार्य देवचन्द्र सूरि से जैन साधु की दीक्षा प्राप्त कर सोमचन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हुए थे।[16] आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले मुनि सोमचन्द्र की अलौकिक प्रतिभा से आकर्षित होकर उनके गुरु ने २१ वर्ष की अवस्था में ११०६ ई० में उन्हें आचार्य पद प्रदान कर दिया था और तभी से वे आचार्य हेमचन्द्र सूरि के नाम से विश्रुत हुए।[17]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ही एक ऐसे जैनाचार्य हैं जिन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा गया है।[18] 'कलिकाल' से तात्पर्य दु:षमा नामक पंचम काल से है, जो अभी लगभग साढ़े अठारह हजार वर्षों तक रहेगा और जिसका ढ़ाई हजार वर्ष समय बीत गया है। 'सर्वज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वज्ञ वह कहलाता है जो समस्त पदार्थों को सर्वांग रूप से युगपत जानता हो। वास्तव में सर्वज्ञ के सम्बन्ध में ऊहापोह करना संभव नहीं हैं। जिज्ञासुओं की जिज्ञासा दार्शनिक ग्रन्थों से शान्त हो सकती है।[19] जैन दर्शन की अवधारणा है कि पंचम काल में आत्मशक्ति का पूर्ण विकास संभव न हो सकने के कारण सर्वज्ञता की प्राप्ति असम्भव है। ऐसी मान्यता होने पर भी यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि पंचमकाल में जन्मे आचार्य हेमचन्द्र सूरि 'कलिकाल सर्वज्ञ' क्यों कहलाते हैं ? क्या वे केवली थे, या उनके भक्तों ने उन्हें उस प्रकार से यह मानद उपाधि प्रदान की थी जैसे कि आजकल दीक्षा समारोहों में दी जाती है ? आचार्य हेमचन्द्र सूरि केवली नहीं थे और न उन्हें आजकल की तरह मानद उपाधि दी गई थी। आजकल तो गुणों के अभाव में भी मानद उपाधि दे दी जाती हैं। अत: आचार्य हेमचन्द्र सूरि को सर्वज्ञता की कसौटी पर कसना अपेक्षित है।

सोमप्रभ सूरि ने लिखा है कि "देवचन्द्र सूरि कहते हैं कि इस बालक को प्राप्त कर हम इसे नि:शेषशास्त्र-परमार्थ में अवगाहन करावेंगे; पश्चात् यह इस लोक में तीर्थंकर जैसा उपकारक होगा। इसलिए इसके पिता चच्च से कहो कि इस चङ्गदेव को व्रत-ग्रहण के लिए आज्ञा दें।..... थोड़ा समय जिनागम कथित तप करके वह गंभीर श्रुत सागर के पार पहुंचा। 'दु:षम समय में जिसका सम्भव नहीं है ऐसा गुणौधवाला' यह है, ऐसा मन में विचार कर श्री देवचन्द्रसूरि ने उसे गणधर पद पर स्थापित किया।[20]

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के गुरु ने बाल्यावस्था में ही परख लिया था कि गंभीर आगमों का अध्ययन कर चङ्गदेव तीर्थंकर के समान धर्म की प्रभावना करेगा।

यह भी भासित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि उन अगाध गुणों से सम्पन्न थे जिनकी प्राप्ति पंचम काल में दुर्लभ है। उन्होंने युवावस्था में असाधारण पांडित्य प्राप्त कर लिया था। उस युग में तर्क, लक्षण और साहित्य महा विद्याएँ मानी जाती थी। हेमचन्द्र ने अपने पुरुषार्थ और कुशाग्र प्रतिभा

के कारण तर्क, लक्षण, साहित्य और आगम, इन चारों विद्याओं का पांडित्य प्राप्त कर लिया था। अपने असामान्य विद्यावैभव के कारण वे 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से विख्यात थे।[21]

आचार्य हेमचन्द्र के टीकाकार आचार्य मल्लिषेण [१२६२ ई०] ने **स्याद्वाद मञ्जरी** की प्रशस्ति में उन्हें भगवान के समान मानकर उनकी स्तुति की है। मल्लिषेण ने आचार्य हेमचन्द्र को तर्क आदि चारों विद्याओं के समुद्र के समान गम्भीर और अपार होने के कारण भगवान कहा है।[22] कलिकाल के ऊपर विजय प्राप्त करने के कारण जिन [भगवान] के समान श्री हेमचन्द्र प्रभु की बनाई स्तुति की टीका बनाने के बहाने उन्होंने हेमचन्द्र आचार्य के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है।[23] **स्याद्वाद मञ्जरी** की अवतरणिका में मल्लिषेण ने हेमचन्द्र सूरि को पंचमकाल की रात्रि के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान और तर्क आदि चार विद्याओं की निर्दोष रचना करने के कारण ब्रह्मा कहा है।[24] आचार्य हेमचन्द्र सूरि असीम प्रतिभा रूपी प्राणों को धारण करने वाले थे। उनके शरीर में सरस्वती और बृहस्पति दोनों निवास करते थे।[25]

तात्पर्य यह है कि वे महान ज्ञानवान और बृहस्पति के समान महान गुण वाले थे। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों से भी सिद्ध होता है कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि वास्तव में कलिकाल सर्वज्ञ थे। कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में तर्क, लक्षण, साहित्य और आगम, इन चार विद्याओं के आधार पर उन्होंने साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना की थी।[26] मुनि जिनविजय कहते हैं, "भगवान् हेमचन्द्राचार्य के जीवन को जगत् में शाश्वत् रखने वाला और अन्य धर्मियों को भी आश्चर्य उत्पन्न करने वाला, उनका अगाध गुण था। उनका जैसा सकल शास्त्रों में पारंगत, ढूढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। इस अपरिमित ज्ञान शक्ति से मोहित होकर तत्कालीन सर्वधर्म के विद्वानों ने 'कलिकाल सर्वज्ञ' जैसी महती उपाधि उनको समर्पित की थी। सचमुच ही आप 'कलिकाल सर्वज्ञ' थे। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं। इस बात की सत्यता आपकी अपार ग्रन्थराशी आज भी जगत् को करा रही है। आपके ग्रन्थों के समूह को देखकर पाश्चात्य विद्वान भी विस्मित होते हैं। वे भी आपको ज्ञान-सागर कह कर उल्लिखित करते हैं। कहा जाता है कि अपने जीवन काल में उन्होंने ३,५०,००,००० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ लिखे थे। प्रो० पीटरसन ने उन्हें बड़ा भारी आचार्य कहा है।"[27]

६४ वर्ष [वि० सं० १२२६/११७३ ई०] तक विद्वत्ता और विशद् प्रतिपादन शैली से जैन साहित्य का सृजन करके भारतीय वांङ्मय को समृद्ध करने वाले आचार्य हेमचन्द्र ने—

१. **व्याकरण विषयक :** (i) सिद्ध हेमशब्दानुशासन (ii) लिङ्गानुशासन (iii) धातुपारायण (iv) उणादि प्रत्यय (v) गणपाठ (vi) सूत्रपाठ
२. **कोष ग्रन्थ :** (i) अभिधान चिन्तामणि (ii) अनेकार्थ संग्रह (iii) देसीनाममाला (iv) शेषनाममाला
३. **काव्यविषयक :** (i) संस्कृत द्वयाश्रय काव्य (ii) प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य (कुमारपाल चरित)
४. **अलंकार विषयक :** काव्यानुशासन
५. **छन्द विषयक :** छन्दानुशासन
६. **न्याय-दर्शन विषयक :** (i) प्रमाण मीमांसा (ii) अन्ययोग व्यवच्छेद (iii) अयोग व्यवच्छेद
७. **योग विषयक :** योगशास्त्र (अध्यात्मोपनिषद)
८. **स्तोत्र विषयक :** (i) वीतराग स्तोत्र (ii) महादेव स्तोत्र, और
९. **पुराण विषयक :** त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं,

की रचना की। इस प्रकार उपर्युक्त नामोल्लेख मात्र से स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा व्याकरण, कोष, काव्य, अलंकार, छन्द, न्याय-दर्शन, योग, स्तोत्र और पुराण विषयक साहित्य की संरचना करने में उनके समन्वयात्मक व्यक्तित्व की महिमा है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि को 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहने का कारण उनके द्वारा की गई जैन धर्म की प्रभावना भी है। महाराज कुमारपाल ने हेमचन्द्र सूरि के अनुरोध से जैनधर्म स्वीकार किया था।[28] **कुमारपाल प्रतिबोध** के रचयिता जिनमण्डन उपाध्याय ग्रन्थ के अन्त में कहते हैं–"प्रभू हेमचन्द्र की असाधारण उपदेश शक्ति की हम स्तुति करते हैं, जिन्होंने अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होकर भी राजा को प्रबोधित किया।"[29]

मुनि जिनविजय जी लिखते हैं कि "जैन समाज भी एक दफा चतुर्थ काल के आ जाने का अनुभव करने लगा। सर्वत्र जैनधर्म की जय-जय ध्वनि होने लगी। यह सब देखकर हेमचन्द्राचार्य अपने जीवन को सफल समझने लगे।

अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई देख स्वीय आत्मा को कृतकृत्य मानने लगे। वीतराग के सत्यधर्म का इस प्रकार उत्कर्ष देखकर सतयुग की अपेक्षा कलियुग को ही श्रेष्ठ मानने लगे।" [30] **वीतराग स्तोत्र** में आचार्य स्वयं कहते हैं–

**यत्राल्पेनापि कालेन त्वद्भक्तं फलमाप्ते।**
**कलिकालः स एकोऽस्तु कृतं कृतयुगादिभिः॥**

उपर्युक्त विवेचन से निम्नांकित बातें फलित होती हैं–

१. आचार्य हेमचन्द्र ने न्याय, व्याकरण, साहित्य और आगम का पुरुषार्थ पूर्वक घोर अध्ययन किया था। इसके परिणाम स्वरूप वे अगाध ज्ञानवान हो गये थे। उन जैसा ज्ञानवान उस युग में दूसरा कोई नहीं था, इसलिए वे 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहलाते थे।
२. आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने ज्ञान के द्वारा विपुल ग्रन्थ राशि लिखी, इसलिए वे 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से विख्यात हुए।
३. आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने उस युग में शैव मतावलम्बी महाराजा कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित किया था। उन महाराजा कुमारपाल ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में जैनधर्म की ऐसी प्रभावना की कि सत्युग के समान कलियुग में न तो कोई अपने मांस के समान किसी का मांस खाता था और न दुराचारी था। [31] अतः अतीन्द्रिय ज्ञान वाले न होने पर भी आचार्य हेमचन्द्र सूरि 'कलिकाल सर्वज्ञ' के रूप में जाने जाते हैं।

उपर्युक्त कारणों से मल्लिषेण ने एक महान महात्मा, पूर्ण योगी, उत्कृष्ट जितेन्द्रिय, महापरोपकारी, दया के सागर, स्पृहहीन, अहर्निश सत्य के उपासक, पक्षपात रहित और अपूर्व ज्ञानदानी आचार्य हेमचन्द्र सूरि को भगवान के समान, ब्रह्मा के समान और कलिकाल रूपी रात्रि के अंधकार को नष्ट करने वाला सतयुग रूपी सूर्य, कहा है। उनके प्रभाव से कलियुग में भी सभी सतयुग की तरह सदाचरण का पालन करते थे, अतः उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहना उचित ही है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि के समान यदि किसी मुनि में गुण हैं तो उसे 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहना उचित है, अन्यथा इसे भक्तों का व्यामोह ही कहना चाहिए।

**सन्दर्भ :–**


१. The Life of Hemachandra
२. **कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि**

३. **श्री हेमचन्द्राचार्य** (डा० बूलर की पुस्तक का गुजराती अनुवाद)

४. **कुमारपालचरित्रादि संग्रह**

५. **हेमचन्द्राचार्य**

६. **हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र**

७. **आचार्य हेमचन्द्र**

८. **आचार्य हेमचन्द्र और उनका साहित्य**

९. **जैन धर्म**

१०. **जैन दर्शन**

११. **श्रमण** (अक्टूबर १९८९)

१२. **कुमारपाल चरितम्** (भूमिका)

१३. आचार्य हेमचन्द्र : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व (**तुलसी प्रज्ञा**, अप्रैल-जून १९७६)

१४. **कुमारपाल चरितम् की प्रस्तावना**

१५. देखें, **शोधादर्श १५** (नवम्बर १९९१), पृ० १९-२३

१६. द्रष्टव्य, मुनि जिनविजय : **कुमारपाल चरितम्** पृ० ९-१९, रसिकलाल छो परिख : **प्रमाण मीमांसा** (प्रस्तावना), पृ० ३५, और कस्तूरमल बांठिया : **हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र**, पृ० १०-१३

१७. मुनि जिनविजय : तथोक्त, पृ. ११, कस्तूरमल बांठिया : तथोक्त, पृ. १४-१८

१८. **प्रमाण मीमांसा**, प्रस्तावना, पृ० ३२

१९. देखें, डा० लाल चन्द्र जैन : **भारतीय दर्शन मे सर्वज्ञ-स्वरूप विमर्श** (जैन दर्शन के आलोक में), और **जैनदर्शन में आत्म विचार**, पृ० १२४-१३५

२०. **कुमारपाल प्रतिबोध**, पृ० २१; **प्रमाण मीमांसा**, प्रस्तावना, पृ० ३६, भी द्रष्टव्य

२१. **स्याद्वाद मञ्जरी**, (सं० एवं अनुवाद डा० जगदीश चन्द्र जैन), भूमिका, पृ० १६

२२. चातुर्विद्यमहोदधेर्भगवतः श्री हेमसूरेर्गिरां ।
गम्भीरार्थविलोकने सद्भवद् दृष्टि प्रकृष्टामम् ।।

२३. विश्राणे कलिनिर्जयाज्जिन तुलां श्री हेमचन्द्र प्रभौ ।
तदद्दृब्धस्तुतिवृत्ति निमितिमिषाद्भक्तिर्मया विस्तृता ।।

२४. इह हि विषम दुःषमार जनितिमिरतिस्कार भास्करानुकारिणा ......
निरवद्यचातुर्विध निर्माणैक ब्रह्मणा श्री हेमचन्द्रसूरिणा ।

(शेष पृष्ठ २६ पर)

# "ध्यान" पर ध्यान ?

—श्री एम० एल० जैन

ध्यान अन्तरंग तप के छह भेदों में से एक है।[1] वर्तमान **तत्त्वार्थसूत्र** (२-३ ई० सदी) के अनुसार ध्यान के चार भेद हैं[2] जिनमें से धर्म्य और शुक्ल ये दो मोक्ष के हेतु हैं।[3] ध्यान क्या है, इसके लिए सूत्र है—

उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमन्तर्मुहूर्तात्।[4] सू० ६/२७

इस सूत्र का अर्थ यह है कि उत्तम संहनन वाले का एक विषय को अग्र करके चिन्ता अर्थात् चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है जो एक मुहूर्त भर के लिए ही संभव है।[5] सूत्रकार ने यह नहीं बताया कि संहनन क्या है और ये कौन-कौन से होते हैं।

किन्तु **षट्खण्डागम** (१-२ ई० सदी) में संहनन नाम-कर्म के भेद इस प्रकार बताए गये हैं—१- वज्रवृषभ वज्रनाराच, २- वज्रनाराच, ३- नाराच, ४- अर्धनारच, ५- कीलक और ६- असंप्राप्तासृपाटिका।[6] फिर भी न तो **षट्खण्डागम** में और ना ही **तत्त्वार्थसूत्र** में यह बताया गया है कि उत्तम संहनन कौन से हैं। आगे चलकर **भगवती आराधना** (२-३ ई० सदी) और **सर्वार्थसिद्धि** (५-६ ई० सदी) में बताया गया कि आदि के तीन संहनन अर्थात् वज्रवृषभ वज्रनाराच, वज्रनाराच व नाराच संहनन, उत्तम संहनन कहलाते हैं।[7] इनमें से मोक्ष का साधन तो प्रथम संहनन ही होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मोक्ष प्राप्ति के लिए वज्रवृषभ वज्रनाराच संहनन तथा धर्म्य व शुक्ल ध्यान होना आवश्यक हैं। वहां तक तो यह नहीं कहा गया कि स्त्री के उत्तम संहनन नहीं होते परन्तु **मोक्ष पाहुड़** में कहा गया कि नारी के उत्तम संहनन नहीं होते।[8] अब यदि नारी के उत्तम संहनन नहीं होते,[9] तो स्त्री के कोई ध्यान, यहां तक कि आर्त्त व रौद्र ध्यान भी नहीं हो सकते,[10] तो फिर क्या श्राविकाओं और आर्यिकाओं द्वारा ध्यान का प्रक्रम ऐसा कार्य है जो दिगम्बर श्रुत के विरुद्ध है ?

यह प्रश्न श्वेताम्बर टीकाकारों के सामने भी आया, तो उन्होंने उत्तम संहनन में चार संहनन गिनाए जिनमें अर्धनाराच संहनन को भी ले लिया।[11] इससे नारी के ध्यान का सर्वथा खण्डन न होकर किंचित समर्थन बन गया।[12]

**जैन लक्षणावली** [13] में ध्यान के जितने लक्षण उद्धृत किए गये हैं उनमें से **तत्त्वार्थसूत्र** व **तत्त्वार्थसार** में ध्यान की व्याख्या में उत्तम संहनन का होना आवश्यक बताया गया हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** के अध्याय ९ के सूत्र २७-२८ में जो यह विरोधाभास दिखाई देता है कि स्त्री के ध्यान हो ही नहीं सकता उसका क्या कारण हो सकता है, यह शंका-समाधान का विषय है। **तत्त्वार्थसूत्र** में न यह कहा गया कि उत्तम संहनन क्या होता है और न यह कि नारी के उत्तम संहनन नहीं होते। यह तो बाद में आचार्यों ने बताया कि प्रथम तीन संहनन ही उत्तम होते हैं परन्तु इससे भी नारी मुक्ति का पूर्णत: निषेध नहीं हो पा रहा था, अत: मुझे लगता है कि १४वीं सदी में यह व्याख्या की गई कि स्त्री के उत्तम संहनन नहीं हो सकते। विद्वान इस विषय पर प्रकाश डालें तो जिज्ञासुओं को उपकृत करेंगे।

**पाद टिप्पणी :–**

१. विनय, वैयावृत्त, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान।
२. आर्त्त रौद्र धर्म्यशुक्लानि, सू० ९/२८
३. परे मोक्ष हेतू, सू० ९/२९
४. पतञ्जलि का सूत्र इस प्रकार है—योगश्च चित्तवृत्ति निरोध:
५. **षट्खण्डागम** में तप: कर्म के आभ्यंतर और वाह्य इस प्रकार बारह भेद बताए गये हैं। इस पर वीरसेन (९वीं सदी ई०) ने **धवला** टीका में ध्यान के लक्षण के लिए जो सूत्र उद्धृत किया है वह केवल इतना ही है– उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्। इस सूत्र में 'अन्तर्मुहूर्तात्' पद नहीं है और ध्यान के भी केवल दो भेद धर्म्य और शुक्ल ही होना गिनाए, न कि चार। इससे यह निष्कर्ष फलित होता है कि नवीं शताब्दी में **तत्त्वार्थसूत्र** के दो पाठ प्रचलित थे। वीरसेन के सामने जो रूप था उसमें अध्याय ९ के सूत्र २७ में "अन्तर्मुहूर्तात्" पद, सूत्र २८ में "आर्त्तरौद्र" शब्द तथा उनसे सम्बन्धित सूत्र २९ से लेकर सूत्र ३५ तक के सूत्र नहीं थे। देखें, **धवला**, (जैन साहित्योद्धारक फंड, भेलसा, १९५५), पृ० ६४ (खण्ड ५, अधिकार ४, सू० २६) तथा पृ० ५४
६. **षट्खण्डागम**, (जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती, १९४३), प्रथम खंड जीवस्थान चूलिका ९-१ सू० ३६ पृ० ७३ तथा खण्ड ५ (५) सू० १०९ पृ. ३६९

श्वेताम्बर पराम्परा में पुण्य प्रकृति एक वज्रवृषभनाराच और पाप प्रकृति पांच इस प्रकार हैं— अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका तथा सेवार्त ।

७. **जैन लक्षणावली,** (वीर सेवा मन्दिर, १९७३), भाग दो, पृ. ५८०, के अनुसार **तत्त्वार्थभाष्य** में लिखा है कि—

उत्तमसंहननं, वज्रर्षभनाराचं, वज्रनाराचं, नाराचं, अर्धनाराचं, च तद् युक्तस्यैकाग्रचिन्ता निरोधश्च ध्यानम्, अर्थात् प्रथम चार संहनन ध्यान के योग्य हैं; किन्तु पं० सुखलाल संघवी ने **तत्त्वार्थसूत्र,** (भारत जैन महामण्डल, वर्धा, १९५२), पृ. ३२३ पर पाद टिप्पण में बताया है कि भाष्य और उसकी वृत्ति प्रथम के दो संहनन वाले को ध्यान का स्वामी मानने के पक्ष में हैं ।

८. **मोक्ष पाहुड**— अंतिमतिय संहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमि महिलाणं ।
आदिमतिय संहणणं णात्थिति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥

यही गाथा **प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति,** (राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९६४), पृ. २२५-२२८/३०४ में भी प्रक्षिप्त है । कहा जाता है कि पाहुड कुन्द-कुन्द की कृति है किन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये आदि विद्वान इस धारणा को ठीक नहीं मानते, (देखें, उक्त प्रवचनसार की प्रस्तावना, पृ. ३५) । **तात्पर्यवृत्ति** टीका १४वीं सदी ई० की रचना है ।

९. आचार्य वचन ही इसका प्रमाण है, और नहीं ।

१०. नारी के संयतासंयत पांचवा गुणस्थान होता है और **धवला** (उपरोक्त, पुस्तक ५ वर्गणा ४ सू. २६ पृ. ७४) में संयतासंयत के धर्म्मध्यान होना माना गया है, किन्तु **तत्त्वार्थसूत्र** के अनुसार उत्तम संहननं न होने से ध्यान का अभाव हो जाता है ।

११. देखें, ऊपर टिप्पण ७

१२. पं० सुखलाल संघवी ने **तत्त्वार्थसूत्र** उपरोक्त सू. ९/२७ में तो आदि के तीन संहनन को ही उत्तम संहनन कहा है ।

१३. **जैन लक्षणावली**, उपरोक्त, भाग २, पृ. ५८१; **हरिवंश पुराण,** (भारतीय ज्ञानपीठ, १९४४), पृ. ६३५ सर्ग पञ्चाशं श्लोक ३, भी दृष्टव्य—

ध्यानमेकाग्र चिन्ताया घनसंहननस्य हि
निरोधोऽन्तर्मुहूर्तं स्याच्चिन्ता स्यादस्थिरं मनः ।

★

# काशहृदगच्छ का इतिहास : एक अध्ययन

—डा० शिव प्रसाद

निर्ग्रन्थदर्शन के श्वेताम्बर आम्नाय से पूर्वमध्ययुग में नगरों और ग्रामों के नाम के आधार पर भी विभिन्न गच्छों का नामकरण हुआ; यथा ब्रह्माण से [वर्तमान वरमाण] से ब्रह्माणगच्छ, वायट से वायटीमगच्छ, काशहृदगच्छ, जाल्योधर [जालिहर] से जाल्योधर या जालिहरगच्छ, कोरंट [कोरटा] कोरंट-गच्छ आदि। अर्बुदगिरि [वर्तमान आबू पर्वत] की तलहटी में काशहृद[1] [वर्तमान कासीन्द्रा या कायंद्रा] नामक एक प्राचीन ग्राम स्थित है जो जैन तीर्थ के रूप में पूर्व मध्ययुग से ही प्रसिद्ध रहा है। इसी स्थान से काशहृदगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जहां अन्य गच्छों से सम्बद्ध बड़ी संख्या में ग्रन्थप्रशस्तियां, महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपि की दाता प्रशस्तियां, दो-एक पट्टावलियां तथा प्रतिमालेख आदि उपलब्ध होते हैं वहीं इस गच्छ की न तो कोई पट्टावली ही मिलती है और न ही पर्याप्त संख्या में ग्रन्थ प्रशस्तियां या अभिलेखीय साक्ष्य ही मिलते हैं। मात्र कुछ ग्रन्थप्रशस्तियां और प्रतिमालेख ही ऐसे मिलते हैं जो इस गच्छ से

---

(पृष्ठ २२ का शेष)

२५. निस्सीमप्रतिभैक जीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां,
पुण्यौघेन सरस्वती सुरगुरु स्वाङ्गैकरूपौ दधत्।
यः स्याद्वादभसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद् बुदध्यम्बुनिधि प्रबोध विधये श्री हेमचन्द्रः प्रभू॥

२६. कस्तूरमल बांठिया : तथोक्त, पृ० ७८-७९, डा० जगदीशचन्द्र : तथोक्त, पृ० १६

२७. मुनि जिनविजय : **कुमारपालचरित्रादि संग्रह**, पृ० १५

२८. कस्तूरमल बांठिया : **हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र**, अध्याय ५ एवं ६

२९. स्तुमस्त्रिसन्ध्यं प्रभुहेमसूरेरनन्यतुल्यामुपदेशशक्तिम्।
अतीन्द्रियज्ञानविवर्जितोऽपि यत्क्षौणिभर्तुर्व्यधित प्रबोधम्॥
द्रष्टव्य, **प्रमाणमीमांसा**, प्रस्तावना, पृ० ४३

३०. **कुमारपालचरित्रादि संग्रह**, पृ० १४

३१. बीस-गुणो तीस-गुणो कलि-कालो नूणजत्थ कय-जुगओ।
नूनं अणभुञ्जन्ते लोए मासं समंसं व॥
**कुमारपालचरित**, १/१५ ★

सम्बद्ध हैं। उक्त सीमित साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के इतिहास की एक झलक प्रस्तुत है—

जालिहरगच्छीय आचार्य देवप्रभसूरि द्वारा रचित **पद्मप्रभचरित** [रचनाकाल वि. सं. १२५४/११९८ ई.] की प्रशस्ति [2] में काशहृदगच्छ और जालिहरगच्छ का विद्याधरगच्छ की शाखा के रूप में उल्लेख है। परन्तु ये दोनों गच्छ कब और किस कारण से अस्तित्व में आये, इनके आदिम आचार्य कौन थे, इस बारे में उक्त प्रशस्ति से कोई भी जानकारी नहीं मिलती।

काशहृदगच्छ का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम साक्ष्य है वि. सं. ११९२/११३६ ई० का एक लेख, जो पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। श्री साराभाई नवाब ने इसकी वाचना निम्नानुसार दी है [3]—

सं० ११९२ ...... ........ काशहृदगच्छे श्रीसिंहलभार्या.................. ...... ...... भार्यया सोहव्था कारिता।

काशहृदगच्छ का उल्लेख करने वाला द्वितीय साक्ष्य है वि. सं. १२२२/११६६ ई० का लेख, जो पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा आबू स्थित विमलवसही में प्रतिष्ठापित है। मुनि जयन्त विजय जी [4] ने इसकी वाचना दी है, जो इस प्रकार हैं—

संवत् १२२२ फाल्गुन सुदी १३ रवौ श्रीकाशहृदगच्छे श्र [श्री] मदु [द्] द्योतनाचार्यसंताने अर्बुदवास्तव्य श्रे० वरणाग तद्भार्या दूली तत् पुत्रो [तत्पुत्रौ श्रे० छाहर बाहरौ प्रथम [स्य] भार्या जासू तत्पुत्रा देवचंद्र वीरचंद्र। पास [र्श्व] चंद्र प्रभृतिसमस्तकुटुंबसमुदायेन श्रीपार्श्वनाथबिंबं आत्मश्रेयोर्थं कारितमिति ॥ मंगलं महाश्रीः ॥ चंद्रार्क यावन्नं दति चिरं जयतु।

उक्त लेख में प्रतिमा प्रतिष्ठापक आचार का नाम नहीं मिलता बल्कि उद्योतनसूरिसंतानीय ...... ऐसा उल्लेख है। काशहृदगच्छ के उपलब्ध साक्ष्यों में सबसे प्राचीन होने से यह लेख महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

काशहृदगच्छ से सम्बद्ध वि. सं. १२४५/११८९ ई० वैशाख वदि ५ गुरुवार के १० लेख मिले हैं। [5] ये सभी आबू स्थित विमलवसही में प्रतिष्ठापित तीर्थंकर प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं। इन लेखों में प्रतिमा प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में काशहृदगच्छीय आचार्य सिंहसूरि का उल्लेख है। ये सिंहसूरि किनके शिष्य थे, इस बारे में उक्त लेखों से कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती।

काशहृदगच्छ से सम्बन्धित वि. सं. १३००/१२४४ ई० का भी एक लेख उक्त जिनालय से ही प्राप्त हुआ है।[6] लेख का मूल पाठ इस प्रकार है–

संवत १३०० ज्येष्ठ वदि १ सुक्रै: [शुक्रै:] ।। श्रीकाशहृदगच्छे श्रीदेवचंद्रा आचारजसंताने सालिगसुत आसिग ·· — ········ ·········देवेन ·· ········ ·· सहितेन ·· · ·········· ।

यद्यपि उक्त खण्डित लेख में प्रतिमा प्रतिष्ठापक आचार्य या मुनि का नाम नष्ट हो गया है, परन्तु वे आचार्य देवचन्द्र के संतानीय [शिष्य] थे, ऐसा स्पष्ट होता है।

काशहृदगच्छ में किन्हीं सिंहसूरि के शिष्य नरचन्द्र उपाध्याय नामक एक विद्वान मुनि हो चुके हैं जिनके द्वारा रचित **प्रश्नशतक ज्ञानदीपिका** नामक **वृत्ति** सहित, **जन्मसमुद्रसटीक** और **ज्योतिषचतुर्विंशतिका** आदि कृतियां मिलती हैं।[7] **प्रश्नशतक** का रचनाकाल वि. सं. १३२४/१२६८ ई० माना जाता है। इसकी **प्रशस्ति** में उन्होंने अपने गुरु का सादर उल्लेख किया है—

इति श्रीकाशहृदगच्छीय श्रीसिंहसूरिशिष्यश्रीनरचंद्रोपाध्यायकृतायां ज्ञानदीपिकासंज्ञायां प्रश्नशतकवृत्तौ वृत्तिवेडालघुभागिन्यां वृष्टिवार्तादिप्रकीर्णकफललक्षणो नाम सप्तम: प्रकाश: ।।६ ।। ज्ञानदीपिकानामवृत्तिः समाप्ता ।।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वि. सं. १२४५/११८६ ई० के कई प्रतिमालेखों में काशहृदगच्छीय आचार्य सिंहसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख हैं और **प्रश्नशतक** आदि कई ग्रन्थों के रचनाकार नरचन्द्र उपाध्याय भी अपने गुरु का नाम सिंहसूरि ही बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या आबू स्थित विमलवसही में वि. सं. १२४५/११८६ ई० में प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापक सिंहसूरि तथा पूर्वोक्त ग्रन्थकार नरचन्द्र उपाध्याय के गुरु सिंहसूरि एक ही व्यक्ति हैं! नरचन्द्र उपाध्याय का समय वि. सं. १३२४/१२६८ ई० सुनिश्चित है, अत: उनके गुरु का समय उनसे लगभग २५ वर्ष पूर्व वि. सं. १३०० के आस-पास माना जा सकता है। इस प्रकार दोनों सिंहसूरि के बीच लगभग ५५ वर्षों का अन्तराल है। अत: इस आधार पर यह माना जा सकता है कि दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं, एक नहीं।

काशहृदगच्छ से सम्बद्ध एक लेख वि. सं. १३४६/१२८३ ई० का है। यह लेख चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर, में रखी पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। श्री अगरचन्द नाहटा[8] ने इस लेख की वाचना निम्नानुसार दी है—

संव [त्] १३४६ फागुग [फाल्गुन] सुदि ८ श्रीकाशहृदगच्छे श्री० आंवड़ पुत्र कर्मणेन मातृ पितृ श्रेयोर्थं पार्श्वनाथ बिंबं कारितं प्र. यण: (?) ।

इस लेख में प्रतिमा प्रतिष्ठापक मुनि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है । इसी गच्छ से सम्बद्ध अगला लेख वि. सं. १३७३/१३१७ ई० का है । यह लेख वडनगर स्थित चौमुख जी देरासर में प्रतिष्ठापित आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है । मुनि बुद्धिसागर जी [9] ने इसकी वाचना दी है, जो इस प्रकार है—

सं. १३७३ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १२ श्रीकाशहृदीयगच्छे बहुसीहमय श्रीआदिनाथबिंबं का० प्रति० श्रीउमेतनसूरिभिः ।।

इस लेख में प्रतिमाप्रष्ठिापक के रूप में उमेतनसूरि [उद्योतनसूरि] का उल्लेख है ।

काशहृदगच्छ से सम्बद्ध अगला अभिलेख वि. सं. १३९३/१३३७ ई० में प्रतिष्ठापित शांतिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है । मुनि जयन्त विजय [10] के अनुसार लेख का मूलपाठ इस प्रकार है—

सं. १३९३ काशहृदगच्छे श्रे० नरसीह भा० वरजी पु० धरणिगेन पित्रोः श्रेयसे श्री शांतिनाथ बि. का. प्र. श्री सिंहसूरिभिः ।।

उक्त लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में सिंहसूरि का नाम दिया गया है ।

इसी गच्छ से सम्बद्ध दो प्रतिमालेख वि. सम्वत् की १५वीं शती के हैं । उनमें से एक वि. सं. १४६१/१४०५ ई० का है, जो मातर स्थित सुमतिनाथ मुख्य बावन जिनालय में रखी पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है । [11] लेख का मूलपाठ इस प्रकार है—

सं. १४६१ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १० शुक्रे उपकेशज्ञा. श्रे. सांगणभार्यासुहवदे-पुत्रघणसीहेन सु. मेघासहितेन पितृपितृव्यरागानिमित्तं श्रीपार्श्वनाथबिंबं का. प्र. काशहृदगच्छे श्रीदेवचन्द्रसूरिभिः ।।

वि. सं. की १५वीं शती का द्वितीय लेख वि. सं. १४७२/१४१६ ई० का है जो धर्मनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है । श्री अगरचन्द नाहटा [12] ने इस लेख की वाचना दी है, जो इस प्रकार है—

सं. १४७२ वर्षे फा. सु. ६ श्रीकासद्र [काशहृद] गच्छे उएस ज्ञा. मोटिला गोत्रे श्रे. जयता पु. रत्ना भा. रत्नसिरि पु. धणसीहेन पित्रो श्रेयसे श्रीधर्मनाथ [बिंबं] कारितं प्रति० श्री उजोअण [उद्योतन] सूरिभिः ॥

उक्त प्रतिमा आज चिन्तामणि जी का जिनालय, बीकानेर, में है। काशहृदगच्छ का उल्लेख करने वाला यह अंतिम अभिलेखीय साक्ष्य है।

काशहृदगच्छीय किन्हीं देवचन्द्रसूरि के शिष्य उपाध्यय देवमूर्ति द्वारा रचित **विक्रमचरित** [रचनाकाल वि. सं. १४७१ के आसपास] नामक एक कृति मिलती है।[13] इस कृति की दो हस्तलिखित प्रतियां मेदपाट [मेवाड़] के शासक कुम्भकर्ण [वि. सं. १४८६-१५२४/१४३३-१४६८ ई०] के राज्य में लिखी गयीं। प्रथम प्रति वि. सं. १४९२/१४३६ ई० में वेसग्राम नामक स्थान पर ग्रन्थकार के गुरु देवचन्द्रसूरि के शिष्य उद्योतनसूरि के पट्टधर सिंहसूरि ने स्वपाठनार्थ वाचनाचार्य शीलसुन्दर से लिखवायी। द्वितीय प्रति उक्त सिंहसूरि ने ही उक्त शासक के शासनकाल में ही वि. सं. १४९६/१४४० ई० में मही-तिलक से लिखवायी। अर्थात्—

?
⋮
देवचन्द्रसूरि
|
उपाध्याय देवमूर्ति [वि० सं० १४७१/१४१५ ई० के आस-पास **विक्रमचरित** अपरनाम **सिंहासनद्वात्रिंशिका** के रचनाकार]

उद्योतनसूरि
|
सिंहसूरि [वि० सं० १४९२ और १४९६ में इन्होंने **विक्रमचरित** की प्रतिलिपि करायी]

वि. सं. १४६१/१४०५ ई० के प्रतिमालेख में उल्लिखित देवचन्द्रसूरि और वि. सं. १४७२/१४१६ ई० के प्रतिमालेख में प्रतिष्ठापक के रूप में वर्णित उद्योतनसूरि को **विक्रमचरित** की प्रशस्ति में उल्लिखित देवचन्द्रसूरि और उनके पट्टधर उद्योतनसूरि से समसामयिकता और गच्छसाम्य के आधार पर अभिन्न माना जा सकता है।

?

देवचन्द्रसूरि [वि. सं. १४६१/१४०५ ई०] प्रतिमालेख

उपाध्याय देवमूर्ति [वि. सं. १४७१/१४१५ ई० के आसपास **विक्रमचरित** के रचनाकार]

उद्योतनसूरि [वि. सं. १४७२/१४१६ ई०] प्रतिमालेख

सिंहसूरि [वि. सं. १४९२ और १४९५ में इन्होंने **विक्रमचरित** की प्रतिलिपि करायीं]

उक्त साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के कुल ९ मुनिजनों के नामों का पता चलता है। इनमें से उद्योतनसूरि और सिंहसूरि का तीन बार और देवचन्द्रसूरि का दो बार उल्लेख आया है अर्थात् देवचन्द्रसूरि, उद्योतनसूरि और सिंहसूरि का पट्टधर आचार्यों के रूप में पुनः-पुनः नाम आता हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि काशहृदगच्छ में पट्टधर आचार्यों के यही तीन नाम पुनः-पुनः प्राप्त होते रहे। संख्या की दृष्टि से साक्ष्यों की विरलता तथा उपलब्ध साक्ष्यों से प्राप्त विवरणों की सीमितता आदि कारणों से इस गच्छ के बारे में विशेष विवरणों का अभाव सा है। फिर भी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विक्रम सम्वत् की १३वीं शती से १५वीं शती के अन्त तक लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त इस गच्छ का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों की सीमितता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अन्य गच्छों की अपेक्षा इस गच्छ के मुनिजनों और उनके अनुयायी श्रावकों की संख्या अधिक न थी। १६वीं शती से इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों का पूर्णतः अभाव है, अतः यह अनुमान व्यक्त किया जा सकता कि इस गच्छ के मुनि और श्रावक इस समय तक किन्हीं अन्य गच्छ में सम्मिलित हो गये होंगे।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों की गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका निर्मित की जा सकती है, जो इस प्रकार है—

?

उद्योतनसूरिसंतानीय [वि. सं. १२२२/११६६ ई०]
प्रतिमालेख

सिंहसूरि [वि. सं १२४५/११८६ ई०]
प्रतिमालेख

सिंहसूरि के शिष्य नरचन्द्र उपाध्याय [वि. सं. १३२४ के आसपास **प्रश्नशतक, ज्योतिषचतुर्विंशतिका** आदि ग्रन्थों के रचयिता]

उद्योतनसूरि [वि. सं. १३७३/१३१७ ई०]
प्रतिमालेख

सिंहसूरि (द्वितीय) [वि. सं. १३९३/१३३७ ई०]
प्रतिमालेख

देवचन्द्रसूरि [वि. सं १४६१/१४०५ ई०]
प्रतिमालेख; **विक्रमचरित** की वि. सं. १४९२ और १४९५ की दाताप्रशस्ति में ग्रन्थकार देवमूर्ति उपाध्याय के गुरु तथा प्रतिलिपि कराने वाले मुनि सिंहसूरि के प्रगुरु के रूप में उल्लिखित]

उपा० देवमूर्ति
[वि. सं १४७१/१४१५ ई० के आसपास **विक्रमचरित** के रचनाकार]

उद्योतनसूरि तृतीय
[वि. सं १४७२]
प्रतिमालेख

सिंहसूरि
[इन्होंने वि. सं. १४९२ और १४९५ में **विक्रमचरित** की स्वपठनार्थ प्रतिलिपि करवायी]

सन्दर्भ :-


१. यह वही ऐतिहासिक स्थान है जहां चौलुक्यनरेश बालमूलराज [११७६-७८ ई०] और शहाबुद्दीन गोरी की सेनाओं में भीषण संघर्ष हुआ था, जिसमें तुर्कों की बुरी तरह पराजय हुई थी।
Majumdar, R. C and Pusalker, A. D. (Ed.)– **The Struggle For Empire,** 3rd Ed., p. 78

२. Dalal, C. D.– **Descriptive Catalogue of Mss in The Jaina Bhandars at Pattan,** pp. 210-213

३. साराभाई नवाब– "गुंजरातनी केटलीक प्राचीन जिनमूर्तियो", **श्रीमहावीर जैन विद्यालय रौप्य-जयन्ती ग्रन्थ**, मुम्बई, १९४० ई०, पृष्ठ १४४-४५

४. मुनि जयन्तविजय (संपा.), **अर्बुद प्राचीन जैन लेख संदोह,** लेखांक १७१

५. वही, लेखांक ५५, ७३, ९५, ९८, १००, १०३, १०४, १०६, १०९, १४७

६. वही, लेखांक ४३

७. भोगीलाल सांडेसरा– **महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मंडल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन,** पृष्ठ १०२-१०३, संदर्भ संख्या ३
प्रो. सांडेसरा ने **प्रश्नशतक** का रचनाकाल ई० सन् ११७८ माना है, जो भ्रामक है।

८. अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा (संपा.), **बीकानेर जैन लेख संग्रह,** ले. २१०

९. मुनि बुद्धिसागर (संपा.), **जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह,** भाग १, ले. ५९२

१०. मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ५९२

११. मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ४७१

१२. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक ६९१

१३. मोहनलाल दलीचन्द देसाई– **जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास,** पृ. ४६८
श्री देसाई ने **विक्रमचरित** की "रायल एसियाटिक सोसायटी-बाम्बे ब्रांच" में संरक्षित प्रति को वि. सं. १४८२/१४२६ ई० में लिपिबद्ध बतलाया है। श्री अगरचन्द नाहटा ने भी **विक्रम स्मृति ग्रन्थ** (उज्जैन, वि. सं. २००१) में प्रकाशित अपने लेख "विक्रमादित्य संबंधी जैन साहित्य" में श्री देसाई का ही अनुसरण किया है; जब कि श्री हरि दामोदर वेलणकर ने स्वसम्पादित **जिनरत्नकोश** (पृष्ठ ३४९-३५०) में उक्त प्रति को वि. सं. १४९२ में लिखा गया बतलाया है, जो प्रमाणिक है क्यों कि राणा कुम्भकर्ण का शासन वि. सं. १४८९/१४३३ ई० में प्रारम्भ हुआ था। ★

# महाकवि रामचन्द्रसूरि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—डा० कृष्ण पाल त्रिपाठी

संस्कृत साहित्य अत्यन्त ललित एवं समृद्ध है। सत्कवियों के सतत श्रम एवं मनोयोग के फलस्वरूप इसके विकास की अविरल धारा अत्यन्त प्राचीन काल से अनवरत प्रवाहित है। इसे गति प्रदान करने में जैन-कवियों का योगदान भी सर्वथा उल्लेखनीय है। विशेषकर रामचन्द्रसूरि ने अपनी रचनाओं द्वारा संस्कृत साहित्य को जो नवीन आभा प्रदान की, वह सर्वतोभावेन श्लाघ्य है। परन्तु, खेद का विषय है कि इस महान् विभूति के जीवन एवं रचनाओं के विषय में अधिकांश साहित्य-सेवी प्रायः अपरिचित हैं।

कविवर रामचन्द्रसूरि ने प्रायः लोकैषणा-रहित होकर स्वान्तः सुखाय साहित्य-सृजन किया। उन्होंने अपने जीवन के विषय में कहीं भी स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया। समसामयिक और परवर्ती साहित्यकार भी इस विषय में मौन हैं। इसलिए उनके जन्म-स्थान, समय, जाति-वंश आदि के परिज्ञान हेतु कोई प्रामाणिक साधन उपलब्ध नहीं है। आधुनिक विद्वानों का अनुमान है कि उनका जन्म गुजरात प्रदेश में अण्हिलपुरपाटन के समीप हुआ था।[1] यद्यपि इस कथन की पुष्टि हेतु कोई सबल साक्ष्य नहीं है, तथापि आचार्य हेमचन्द्र और चौलुक्य नरेशों के साथ रामचन्द्र के सम्बन्धों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनकी जन्म भूमि गुजरात रही होगी।

रामचन्द्र गुजरात के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे।[2] हेमचन्द्र अपने युग के प्रकाण्ड विद्वान एवं साहित्यकार थे। साहित्य, व्याकरण एवं न्यायशास्त्र पर उनका विशेषाधिकार था। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण ज्ञान-राशि अपने योग्यतम शिष्य रामचन्द्र को सस्नेह प्रदान की।[3] फलस्वरूप उनकी अगाध विद्वत्ता का उत्तराधिकार रामचन्द्रसूरि में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। तभी तो वे स्वयं को 'विद्यात्रयीचणम्'[4] और 'त्रैविद्यवेदिनः'[5] कहते हैं। रामचन्द्र ने **हैमबृहद्वृत्तिन्यास, द्रव्यालंकार** एवं **नाट्यदर्पण** ग्रन्थों का प्रणयन कर क्रमशः व्याकरण, न्याय एवं साहित्य के क्षेत्र में अपनी दक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। वस्तुतः उस युग में राजदरबार एवं जनसमुदाय में भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त करने के लिए इन तीनों विद्याओं में निष्णात होना आवश्यक था। अतः 'सिंहस्य शिशुः सिंह एव' इस लोकोक्ति को सार्थक करते

हुए रामचन्द्रसूरि ने भी अपने गुरू की भाँति इस महत्त्रयी में पाण्डित्य प्राप्त किया था। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त 'अचुम्बितकाव्यतन्द्र' [6] एवं 'विशीर्ण-काव्यनिर्माणनिस्तन्द्र' [7] विशेषण उनकी उच्च शिक्षा और प्रखर प्रतिभा के द्योतक हैं।

पण्डित रामचन्द्रसूरि केवल उत्कृष्ट साहित्यकार ही नहीं, अपितु उच्चाचार सम्पन्न जैन सन्त भी थे। उनकी असाधारण प्रतिभा, योग्यता एवं उत्कृष्ट आचरणशीलता से प्रभावित होकर गुरु हेमचन्द्र ने अपने जीवन-काल में ही उन्हें अपना पट्टशिष्य घोषित कर दिया था। [8] इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन परिस्थितियों में अपने गच्छ को सुव्यवस्थित रूप से सञ्चालित करने एवं संघ की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने में रामचन्द्र ही सर्वथा उपयुक्त थे। उनके गुरु के स्तर को देखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि रामचन्द्र के सतीर्थ्यों की संख्या बहुत अधिक रही होगी किन्तु अभी तक केवल महेन्द्रसूरि, गुणचन्द्रगणि, वर्धमानगणि, देवचन्द्रमुनि, यशश्चन्द्रगणि, उदयचन्द्र एवं बालचन्द्रगणि नामक सात सतीर्थ्यों के विषय में ही जानकारी हो सकी है। [9]

हेमचन्द्र बहुत योग्य एवं सुविख्यात धर्माचार्य थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता एवं चरित्रबल के आधार पर गुर्जर-नरेश सिद्धराजजयसिंह की राजसभा में प्रविष्ट होकर अपने प्रिय शिष्य रामचन्द्र के लिए भी राजाश्रय प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। सर्वप्रथम उन्होंने ही सिद्धराज से रामचन्द्र का परिचय कराया और उनके द्वारा रचित एक राजस्तुति भी सुनायी, जिसे सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ था। [10] सिद्धराज और रामचन्द्र से सम्बन्धित कुछ अन्य विवरण भी उपलब्ध हैं। एक बार ग्रीष्म ऋतु में क्रीडोद्यान जाते हुए राजा ने रामचन्द्र से पूछा कि गर्मी में दिन बड़े क्यों हो जाते हैं? रामचन्द्र ने अविलम्ब ही एक सुन्दर श्लोक बनाकर सुनाया जिसमें उत्तर के साथ परोक्षरूप से राजा के प्रताप का भी वर्णन किया गया है। राजा ने उनसे पत्तन नगर का वर्णन करने को कहा। उन्होंने तत्काल ही उत्प्रेक्षालङ्कारयुक्त सुन्दर श्लोक में नगर का वर्णन कर दिया। उनकी इस आशुकवित्व शक्ति से प्रसन्न होकर राजा ने सभी के समक्ष रामचन्द्रसूरि को 'कविकटारमल्ल' की उपाधि से अलंकृत किया। [11]

रामचन्द्र ने शीघ्र ही जयसिंह के दरबार में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। राजा उन्हें काव्यप्रबन्धादि के गुणदोष-परीक्षण सदृश गुरुतर कार्यों के

लिए भी आमन्त्रित करता था। महाकवि श्रीपाल विरचित **सहस्रलिङ्गसरोवर प्रशस्ति** के शोधनार्थ राजा ने जब विद्वानों को बुलवाया तब हेम-गच्छ का प्रतिनिधित्व रामचन्द्रसूरि ने ही किया था। उपस्थित विद्वानों ने उस प्रशस्ति काव्य की भरपूर प्रशंसा की परन्तु जब राजा ने रामचन्द्र से पूछा तब उन्होंने उसमें व्याकरण सम्बन्धी कुछ दोषों की ओर संकेत किया।[12] इस प्रकार उन्हें श्रीपाल सदृश महाकवि द्वारा रचित काव्य की समीक्षा करने का अवसर देना उनकी अगाध विद्वत्ता का परिचायक है।

सिद्धराज का उत्तराधिकारी कुमारपाल भी महान साहित्यानुरागी एवं कवि-प्रश्रयदाता था। उसकी सभा में अनेक कवि एवं साहित्यकार विद्यमान थे। रामचन्द्रसूरि भी उसकी सभा के प्रख्यात कवि थे। उनकी समस्यापूर्ति-शक्ति अत्यन्त प्रखर एवं विलक्षण थी। **प्रबन्धचिन्तामणि** एवं **कुमारपालचरित** में विश्वेश्वर द्वारा समस्यायें प्रस्तुत करने और रामचन्द्र द्वारा उनकी पूर्ति करने का उल्लेख उपलब्ध है।[13] कुमारपाल उनकी विद्वत्ता एवं सच्चरित्रता से अत्यधिक प्रभावित था। विषम परिस्थितियों में वह उनसे उपदेश भी ग्रहण करता था। **कुमारपालचरित** से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र की मृत्यु से दुःखी राजा को रामचन्द्र ही सम्बोधित करते थे। इसी प्रकार अजयपाल द्वारा दिये गये विष से प्रभावित होने पर राजा ने मुनिश्वर रामचन्द्र को ही पर्यन्ताराधना के लिए बुलवाया था।[14]

**प्रबन्धचिन्तामणि** से ज्ञात होता है कि **सहस्रलिङ्गसरोवर प्रशस्ति** में व्याकरण सम्बन्धी दोष बतलाने पर राजा की क्रुद्ध दृष्टि पड़ने से उपाश्रय में प्रवेश करते समय रामचन्द्र की एक आँख फूट गयी,[15] जबकि **प्रभावकचरित** के अनुसार सिद्धराज से परिचय होने के बाद ही उनकी दाहिनी आँख नष्ट हो गयी थी।[16] पीटर्सन महोदय के चतुर्थ प्रतिवेदन से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र बहुत उद्दण्ड थे। उन्हें जब ऋषि जयाम्न के समक्ष लाया गया, तब उन्होंने जैन-विश्वास के अनुसार स्वयं को एक दृष्टि के साथ ऋषि के सामने प्रस्तुत किया।[17] इस प्रकार रामचन्द्र ने स्वयं ही अपनी एक आँख नष्टकर दी। परन्तु प्रो० भोगीलाल साण्डेसरा का अनुमान है कि उनकी आँख जन्म से या बाल्यकाल में दैववशात् नष्ट हुई होगी।[18] वस्तुतः कारण कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि रामचन्द्र को चक्षु-विनाश की घोर पीड़ा सहन करनी पड़ी थी। उनके स्तोत्रों से भी उनकी चक्षु-क्षति का संकेत मिलता है, जिनमें भगवान् जिन

से दृष्टिदान की प्रार्थना की गयी, यथा **नेमिस्तव** के अन्त में—

नेमे ! निधेहि निशितासिलताभिराम चन्द्रावदातमहसं मयि देव ! दृष्टिम् ।
सद्यस्तमांसि विततान्यपि यान्तु नाशमुज्जृम्भतां सपदि शाश्वतिक: प्रकाश: ।।

यद्यपि इसे कवि द्वारा मुक्तिपथ पर अग्रसर होने के लिए आध्यात्मिक दृष्टिदान की प्रार्थना माना जा सकता है, तथापि इसकी बारम्बर आवृत्ति द्वयर्थी प्रतीत होती है । **व्यतिरेकद्वात्रिंशिका**[19] के एक श्लोक में प्रयुक्त 'विधिनतान्ध्य' एवं 'गलत्तनुता' पदों से प्रतीत होता है कि अन्तिम अवस्था में वे दोनों नेत्रों से अन्धे हो गये थे ।

रामचन्द्रसूरि का अन्तिम समय अत्यन्त दु:खद रहा । कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल ने एक विशिष्ट कारणवश क्रुद्ध होकर रामचन्द्र की जीवन-लीला समाप्त कर दी । **प्रबन्धचिन्तामणि** के अनुसार अजयपाल द्वारा जब रामचन्द्र को तप्त ताम्रपट्टिका पर बैठाया गया तब उन्होंने एक श्लोक पढ़ा और दाँतों से अपनी जिह्वा काटकर मृत्यु को प्राप्त किया ।[20] **प्रबन्धकोष** से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र की वृद्धावस्था में उनके गच्छ में विरोध हो गया । रामचन्द्रादि एक ओर तथा बालचन्द्र दूसरी ओर था । एक बार रात्रि में कुमारपाल ने हेमचन्द्र से पूछा कि वह अपना उत्तराधिकारी किसे बनावे ? हेमचन्द्र ने प्रतापमल्ल का नाम सुझाया । बालचन्द्र ने इसे सुनकर अजयपाल से बतला दिया । फलत: वह हेमगच्छीय रामचन्द्रादि से विद्वेष करने लगा । वह जब सिंहासनारूढ़ हुआ तब उसने रामचन्द्र को तप्तलौहपट्टिका पर बैठाकर उनका अन्त कर दिया । कुछ अन्य प्रबन्धों में भी यही वर्णन उपलब्ध है ।[21] **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** में द्वेष का कारण दूसरा बतलाया गया है । उक्त ग्रन्थ के अनुसार हेमसूरि के रामचन्द्र और बालचन्द्र नामक शिष्य थे । गुरु ने रामचन्द्र को सुशिष्य समझकर विशेष विद्या और मान दिया । इससे अप्रसन्न होकर बालचन्द्र चला गया । उसने अजयपाल से मैत्री कर ली । राजा बनने पर अजयपाल ने रामचन्द्र से हेमसूरि की सम्पूर्ण विद्या बालचन्द्र को प्रदान करने को कहा । परन्तु रामचन्द्र के इनकार करने पर राजा ने उन्हें अग्नि में बैठने का आदेश दिया ।[22] इस प्रकार अजयपाल के अत्याचार द्वारा इस महान अहिंसावादी सन्त का अन्त हो गया ।

कविवर रामचन्द्र ने अपने जन्म-समय आदि का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया किन्तु अनेक ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनके आधार पर उनके समय का अनुमान

किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में मुरारि[23] (८०० ई०), अभिनवगुप्त[24] (दशम शती ई०) और मम्मट[25] (ग्यारहवीं शती ई०) का नामोल्लेख किया है। कुछ लोगों का विचार है कि **नाट्यदर्पण** की रचना **दशरूपक** (९७४-९९४ ई०) की प्रतिद्वन्दिता में हुई थी।[26] अतः स्पष्ट है कि रामचन्द्र का आविर्भाव दशम शताब्दी के पश्चात् हुआ था। वे अपने गुरु हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) से आयु में छोटे थे, तभी तो गुरु ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। गुरु को यह विश्वास था कि यदि कोई दैवी प्रकोप न हुआ तो उनका शिष्य उनके बाद भी जीवित रहेगा। इस आधार पर रामचन्द्र के जीवन काल की आरम्भिक सीमा १०८७ ई० से पूर्व नहीं हो सकती। यदि उन्हें गुरु से २०-२२ वर्ष छोटा मान लिया जाय तो रामचन्द्र का जन्म १११० ई० के लगभग अनुमानित होता है।

बाह्य साक्ष्यों मे स्पष्ट है कि रामचन्द्र चौलुक्य नरेश सिद्धराज, कुमारपाल और अजयपाल के शासन काल में विद्यमान थे। इस आधार पर सं० ११५० से १२३३ (१०९३-११७६ ई०) के मध्य उनके अस्तित्व का पता चलता है। आधुनिक विद्वानों में श्री पी० वी० काणे ने रामचन्द्र का जीवन-काल ११५०-११७५ ई० तक[27], आ० बलदेव उपाध्याय ने ११३० से ११८० ई० तक[28] और डॉ० के० एच० त्रिवेदी ने ११२५ से ११७३ ई० तक माना है।[29]

हेमचन्द्र ने सिद्धराज से जब रामचन्द्र का परिचय कराया तो रामचन्द्र विरचित एक राजस्तुति भी सुनायी, जिसमें धारा-विजय का उल्लेख हुआ है।[30] ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि धारा-विजय सं. ११९२ (११३५ ई०) में हुई थी।[31] उसके थोड़े दिनों बाद ही राजा ने रामचन्द्र को 'कविकटारमल्ल' की उपाधि दी। उस समय रामचन्द्र की आरम्भिक अवस्था थी।[32] यदि उस समय उन्हें २५ वर्ष का मान लिया जाय तो उनका जन्म १११० ई० के आसपास निर्धारित होता है। उस समय उन्हें २५ वर्ष से कम आयु वाला मानना भी उचित नहीं है क्योंकि लगभग ११४० ई० में सहस्रलिङ्गसरोवर प्रशस्ति के गुण-दोष परीक्षण के समय वे पूर्ण वयस्क रहे होंगे, तभी तो उन्हें ऐसा गुरुतर कार्य सौंपा गया था। डॉ० नेमिचन्द्र ने भी कोई तर्क तो नहीं दिया किन्तु उनकी आरम्भिक-तिथि ११०९ ई. मानी है।[33]

यह तो निर्विवाद है कि रामचन्द्र का अन्त अजयपाल (सं. १२३०-१२३३) ने कराया था। संभावना यही है कि अजयपाल ने सत्तारूढ़ होने के

तत्काल बाद ही उन्हें प्राणदण्ड दिया होगा क्योंकि उसे यह भय रहा होगा कि रामचन्द्र उसके विरूद्ध कोई षडयन्त्र न तैयार कर दें। इस आधार पर उनकी अन्तिम तिथि सं. १२३० (११७३ ई०) मानी जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रामचन्द्रसूरि का जीवन-काल १११० से ११७३ ई० तक मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

महाकवि रामचन्द्रसूरि की रचनाओं का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि वे स्वाभिमानी प्रकृति के थे। उन्हें अपने ज्ञान एवं कवित्व पर पर्याप्त गर्व था। वे अपनी कृतियों को अन्य कवियों की रचनाओं से श्रेष्ठ मानते थे—

प्रबन्धा इक्षुवत् प्रायों हीयमानरसाः क्रमात्।
कृतिस्तु रामचन्द्रस्य सर्वा स्वादु पुरः पुरः॥ **नलविलास, १/४**

रामचन्द्र महान स्वातन्त्र्य-प्रेमी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में पग-पग पर अपनी स्वातन्त्र्यप्रियता का परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में यदि जीवन भर स्वतन्त्रता बनी रहे तो उसके सामने स्वर्ग और त्रैलोक्य का वैभव व्यर्थ है—'स्वातन्त्र्यं यदि जीवितावधि मुधा स्वर्भूर्भुवो वैभवम्।'[34] वे अत्यन्त निडर एवं साहसी थे। उन्होंने अजयपाल की दुर्भावना-ग्रस्त आज्ञा मानने की अपेक्षा मृत्यु-दण्ड स्वीकार करना अधिक श्रेयस्कर माना था। वे भाग्यवादी, सज्जनानुरागी, समाज-सुधारक एवं विनोदी प्रकृति के थे। उन्हें विविध शास्त्रों का ज्ञान था। उनकी कृतियों में ज्योतिषु, सामुद्रिक, शकुन, स्वप्न, नीति, कामशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र, दर्शन, न्याय, नाट्यशास्त्र एवं पौराणिक उपाख्यानों से सम्बन्धित अनेक तथ्य उपलब्ध हैं। कवित्व और पाण्डित्य का ऐसा अनुपम संयोग बहुत कम दृष्टिगोचर होता है।

## कृतित्व

महाकवि रामचन्द्रसूरि का कृतित्व बहुत विशाल है। वे 'प्रबन्धशतकर्ता' महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं।[35] इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने लगभग सौ ग्रन्थों का प्रणयन किया था। परन्तु मुनि जिनविजय जी के अनुसार 'प्रबन्ध-शत' एक ग्रन्थ का नाम है, जिसमें पाँच सहस्र श्लोकों में रूपक के द्वादश भेदों का निरूपण किया गया है।[36] कुछ अन्य विद्वानों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। परन्तु डॉ० के० एच० त्रिवेदी ने उक्त मत का खण्डन कर रामचन्द्र को सौ ग्रन्थों का प्रणेता माना है।[37] वस्तुतः 'प्रबन्धशत' को एक कृति मानना

उचित नहीं प्रतीत होता है। आज तक इस नाम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। साथ ही रामचन्द्र ने जब **नाट्यदर्पण** में द्वादश रूपक-भेदों का समुचित विवेचन कर दिया तब उसी विषय पर उन्हें दुबारा ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता ही क्या थी ? यदि उन्होंने लिखा होता तो उसका एकाधि उद्धरण **नाट्यदर्पण** आदि में अवश्य मिलता, क्योंकि **नाट्यदर्पण** की रचना के पूर्व ही वे 'प्रबंध-शतकर्ता' हो चुके थे। साहित्य में 'शत' शब्द का प्रयोग लगभग सौ या बहु-संख्यक अर्थ में होता है। रामचन्द्र ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया होगा, तभी तो उन्होंने **कुमारविहारशतक** में ११६ पद्य रखें हैं। अत: स्पष्ट है कि 'प्रबंधशतकर्ता' का अभिप्राय 'प्रबंधशत' नामक एक ग्रन्थ का प्रणेता न मानकर उन्हें लगभग सौ ग्रन्थों का रचयिता मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। कुछ अन्य विद्वानों ने भी यही मत व्यक्त किया है। वास्तव में रामचन्द्रसूरि सदृश प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न कवि के लिए सौ ग्रन्थों का प्रणयन कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। सम्प्रति उनकी ४७ कृतियों के विषय में जानकारी उपलब्ध है, जिनमें ग्यारह रूपक, तीन शास्त्रीय ग्रंथ, तीन काव्य और तीस स्तोत्र हैं—

(क) **नाट्य-ग्रन्थ-** (१) **राघवाभ्युदय**– यह नाटक अभी तक अनुपलब्ध है एवं **नलविलास** से पूर्ववर्ती है। कवि ने इसे अपने पाँच सर्वोत्तम प्रबन्धों–राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, नलविलास, रघुविलास और द्रव्यालङ्कार, में एक माना है।[38] **नाट्यदर्पण** में उपलब्ध उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इसमें सीता स्वयंवर से रावण-वध तक की घटना वर्णित है।[39]

(२) **यादवाभ्युदय**– यह भी **नलविलास** से पूर्ववर्ती एवं अनुपलब्ध नाटक है। **नाट्यदर्पण** में प्राप्त अवतरणों से ज्ञात होता है कि इसमें कंस एवं जरासंध के वध के बाद नवम् वासुदेव श्रीकृष्ण के राज्याभिषेक का वर्णन हुआ है।[40]

(३) **नलविलास**–रामचन्द्र की उपलब्ध नाट्यकृतियों में **नलविलास** का नाम सर्वोपरि है। कवि ने अपनी अनेक कृतियों में हेमचन्द्र प्रणीत **सिद्धहैम** व्याकरण का उल्लेख किया है,[41] किन्तु **नलविलास** में इस कृति का नामोल्लेख नहीं हुआ। इससे प्रतीत होता है कि **नलविलास** पूर्ववती है। **सिद्धहैम** का रचना-काल ११३५-११३८ई० मान्य है।[42] अत: **नलविलास** की रचना ११३८ ई० के पूर्व होनी चाहिए।

यह सात अङ्कों का नाटक है। इसमें महाभारतीय नलोपाख्यान के आधार पर नल-दमयन्ती की प्रणय-कथा वर्णित है। कुछ घटनायें **वसुदेवहिण्डी** प्रभृति

जैन स्रोतों से भी ग्रहीत हैं। फिर भी जैन संस्कृति का प्रभाव नगण्य सा है। प्रथम अङ्क में युगादिदेव की सपर्या के बाद विश्राम करते समय नायक नल को कापालिक द्वारा दमयन्ती का चित्रपट मिलता है। वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कलहंस और मकरिका को दमयन्ती-अनुकूलन हेतु विदर्भ भेजता है। द्वितीय अङ्क में विदर्भ से लौटकर दोनों राजा से सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाते हैं। उनके साथ आयी हुई लम्बस्तनी नल को दमयन्ती-प्राप्ति का आश्वासन देती है। तृतीय अङ्क में नल अपने मित्रों सहित स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए कुसुमाकरोद्यान में रुकता है। वहीं नल-दमयन्ती का प्रथम समागम होता है। चतुर्थ अङ्क में स्वयंवर का आयोजन होता है, जिसमें दमयन्ती राजा नल का वरण करती है। पञ्चम अङ्क में नल अपने भाई कूबर के हाथों जुए में सर्वस्व हारकर देशान्तरगमन करता है। मार्ग में वेशान्तरित कापालिक के बहकावे में आकर वह भूमिसुप्ता दमयन्ती को वन में छोड़कर अयोध्या चला जाता है। षष्ठ अङ्क के गर्भाङ्क में प्रस्तुत 'नलान्वेषणनाटक' में दयवन्ती के करुण क्रन्दन से पीड़ित नल की चेष्टाओं से सभी को सन्देह होने लगता है कि यह विकृतरूपबाहुक नल ही है। इसी समय विदर्भ से दमयन्ती-स्वयंवर का निमन्त्रण आता है। बाहुक (नल) अपने ऊपर सारथि भार लेकर अयोध्यापति को दूसरे दिन प्रातः ही विदर्भ पहुंचाने का आश्वासन देता है। सप्तम अङ्क में कुण्डिनपुर पहुंचने पर उसे ज्ञात हुआ कि दमयन्ती चितारोहण करने जा रही है। नल उसके पास जाकर पहले प्रेम परीक्षा लेता है और बाद में अपने पूर्वरूप में प्रकट होकर दमयन्ती की रक्षा करता है।

कवि ने **महाभारत** से गृहीत कथानक में यथावश्यक परिवर्तन कर उसे पूर्णतः अभिनयानुकूल बनाया है। अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं एवं सन्धियों की समुचित योजना में उनका निर्मल नाट्य नैपुण्य स्पष्ट रूप से झलकता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त विलक्षण है। इसमें नायक को परम्परागत धीरोदात्त रूप में न रखकर धीरललित रूप में प्रस्तुत किया गया है। दमयन्ती का चरित्र भी बहुत उदात्त एवं मनभावन है इसमें शृङ्गार एवं करुण की सफल अभिव्यक्ति हुई है। अन्य रसों को भी यथोचित स्थान दिया गया है। इसकी भाषा सरल, सरस एवं प्रवाहयुक्त है। वैदर्भी रीति में आलिखित इस नाटक में प्रसाद एवं माधुर्य गुणों की बहुलता है। अलङ्कारों के स्वाभाविक प्रयोग एवं छन्दों की प्रसङ्गानुकूल योजना से सम्पूर्ण नाट्य सुसज्जित है।

(४) **रघुविलास**– यह **नलविलास** से परिवर्ती है और इस नाटक में आठ अङ्क हैं। प्रथम अङ्क में पिता के वचन-परिपालनार्थ राम का वनगमन और द्वितीय अङ्क में राक्षसों के शमनार्थ राम-लक्ष्मण के जाने पर विराधरूप धारी रावण द्वारा सीता का हरण होता है। तृतीय अङ्क में राम घोर विलाप करते हैं, तभी एक विद्याधर आकर राम से माया सुग्रीव को मारकर वास्तविक सुग्रीव की रक्षा करने का अनुरोध करता है। चतुर्थ अङ्क में सीता को आकृष्ट करने के लिए रावण अनेक कुचक्र रचता है। पञ्चम अङ्क में विभीषण का राम की शरण में आने और चन्द्रराशि का रामदूत रूप में लङ्का जाने का वर्णन है। षष्ठ अङ्क में कुंभकर्ण और इन्द्रजित् को बन्दी बनाने और रावण द्वारा लक्ष्मण पर शक्ति प्रहार की कथा वर्णित है। सप्तम अङ्क में मन्दोदरी आदि रावण को समझाती हैं। अष्टम अङ्क में राम-रावण युद्ध, रावण द्वारा माया-प्रयोग, लक्ष्मण द्वारा रावण-वध और अन्त में राम-सीता मिलन होता है।

**रघुविलास** की अधिकांश घटनायें जैन रामायण पर आधारित हैं। इसमें माया-पात्रों की कल्पना एवं निर्वाह अत्यन्त सौष्ठवपूर्ण है। राम-विलाप पर **विक्रमोर्वशीय** का प्रभाव स्पष्ट है। वस्तु, नेता एवं रस की दृष्टि से यह नाटक पूर्ण सफल है।

(५) **सत्यहरिश्चन्द्र**– यह छ: अङ्कों का नाटक है। इसकी कथावस्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र के पौराणिक आख्यान पर आधारित है। प्रथम अङ्क में कुलपति को इन्द्र के मुख से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा अच्छी नहीं लगी। अत: उसने राजा के सत्त्व की परीक्षा लेने के लिए कूट विधान तैयार किया। हरिश्चन्द्र ने एक वराह को मारने के लिए बाण चलाया, जिससे वराह के साथ कुलपति-पुत्री वञ्चना की प्रियतमा गर्भिणी हरिणी भी मर गयी। कुलपति ने राजा को शुद्धि के लिए सर्वस्वदान करने को कहा। राजा ने स्वीकार कर लिया। उन्होंने वञ्चना को एक लाख स्वर्ण मुद्रायें भी देने का वचन दिया। द्वितीय अङ्क में कुलपति मुद्रायें लेने साकेत पहुंचा किन्तु राजकोष से लायी मुद्राओं को अपनी कहकर वापस कर दिया। उसने राजा को साकेत छोड़ने और एक मास के भीतर मुद्रायें देने को कहा। तृतीय अङ्क में राजा अपनी पत्नी और पुत्र को बेचकर स्वयं चाण्डाल के यहाँ नौकरी करते हैं। चतुर्थ और पञ्चम अङ्क में कुलपति के षड्यन्त्रों से राजा व रानी को घोर कष्ट उठाना पड़ता है। षष्ठ अङ्क में सुतारा अपने मृत पुत्र रोहिताश्व का शव लेकर श्मशान-घाट पहुंचती है, फिर भी राजा अपनी सत्य-

निष्ठा से विचलित नहीं होते। अन्त में चन्द्रचूडादि देवता उनकी सफलता के लिए बधायी देते हैं।

यह नाटक चरित्र-निर्माण एवं लोकानुरञ्जन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। रस, भाव, भाषा-शैली एवं अभिनय की दृष्टि से नाटक बहुत उत्तम है। नायक की उत्तमता एवं अभिनय सर्वातिशायिता सिद्ध करने में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

(६) **निर्भयभीमव्यायोग**– इस एकांकी रूपक की कथावस्तु **महाभारत** के बकासुर-वध पर आधारित है। इसमें पाण्डवों के वनवास के समय भीम द्वारा बकासुर को मारकर ब्राह्मण युवक की रक्षा करने की कथा बहुत रोचक शैली में वर्णित है। इस पर भास के **मध्यमव्यायोग** एवं हर्ष के **नागानन्द** का पर्याप्त प्रभाव है।

(७) **मल्लिकामकरन्द**– इसकी प्रस्तावना में इसे नाटक कहा गया है[43] किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रकरण है। इसमें छः अङ्क हैं। इसमें नायक मकरन्द काममन्दिर में आत्महत्या हेतु उद्यता नायिका मल्लिका की रक्षा करता है। मल्लिका का पालक बतलाता है कि यह चित्रलेखा एवं वैनतेय नामक विद्याधर की पुत्री है। सोलह वर्ष की आयु में वह इसे उठा ले जायेगा, इसलिए आप भी इसकी रक्षा हेतु सहयोग करें। मकरन्द उसकी रक्षा के लिए नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है। इस प्रकरण की भाषा सरल एवं शैली मनोहर है। रस-परिपाक की दृष्टि से प्रकरण पूर्ण सफल है।

(८) **कौमुदीमित्राणन्द**– यह दश अङ्कों का सामाजिक प्रकरण है। इसमें जिनदास वणिक के पुत्र मित्राणन्द एवं कुलपति-पुत्री कौमुदी की प्रणय-कथा वर्णित है। वरुण द्वीप के समीप जलपोत भग्न हो जाने के कारण मित्राणन्द अपने मित्र मैत्रेय के साथ द्वीप में पहुंचा। वहाँ कुलपति-पुत्री से उसका विवाह हो गया। नायिका ने बतलाया कि यह कुलपति वास्तविक साधु नहीं है। इसने अनेक धनी व्यक्तियों से मेरा विवाह कर उन्हें मार डाला है। अतः इससे जागुलीदेवी की हालाहलहरी-विद्या सीखकर हमें सिंहलद्वीप भाग चलना चाहिए। नायक ने उससे वह विद्या सीख ली। बाद में दोनों सिंहलद्वीप चले गये। वहाँ चोर समझकर मित्राणन्द को पकड़ लिया गया। इसी समय वहाँ के राजकुमार को सर्प ने डस लिया और मित्राणन्द ने उसकी रक्षा की। परन्तु मन्त्री कामरति के

कारण नायक को अनेक कष्ट उठाने पड़े। अन्त में नायक-नायिका का मिलन होता है।

इस प्रकरण पर दण्डी के **दशकुमारचरित** का पर्याप्त प्रभाव है। विद्वानों की दृष्टि में यह प्रकरण नितान्त असफल है।[44]

(९) **रोहिणीमृगाङ्क**– **नाट्यदर्पण** में उपलब्ध दो अवतरणों से ज्ञात होता है कि इस प्रकरण में मृगाङ्क एवं रोहिणी की प्रणय-कथा वर्णित है।[45]

(१०) **वनमाला**– **नाट्यदर्पण** में प्राप्त एक मात्र अवतरण से ज्ञात होता है कि इस नाटिका में दमयन्ती के महादेवी बनने के बाद राजा नल और नायिका वनमाला की प्रणय-कथा वर्णित है।[46]

(११) **यदुविलास**– **रघुविलास** के सम्पादक जे० एच० दुबे सहित अनेक विद्वानों का विचार है कि इस नाटक का उल्लेख **रघुविलास** की प्रस्तावना में हुआ है।[47] परन्तु सम्प्रति प्राप्त **रघुविलास** में इसका नामोल्लेख नहीं मिलता। संभव है कि किसी हस्तलिखित प्रति में रहा हो।

(ख) **शास्त्रीय ग्रन्थ**- (१) **द्रव्यालंकार**– रामचन्द्र-गुणचन्द्र की इस संयुक्त कृति का वर्ण्य विषय जैन न्याय है। इसके तीन अध्यायो में से द्वितीय और तृतीय अध्याय उपलब्ध हैं। यह ताडपत्रीय प्रति सं० १२०२ में लिखी गयी थी।[48]

(२) **नाट्यदर्पण**– यह भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र की संयुक्त कृति है। इसका वर्ण्य विषय रूपक-रचना है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २०७ कारिकायें हैं, जिन्हें चार विवेकों में विभाजित किया गया है। कारिकाओं को बोधगम्य बनाने हेतु इन ग्रन्थकारों ने विस्तृत वृत्ति भी लिखी है। इसमें भरत और अभिनवगुप्त के मतों का भी कहीं-कहीं परिष्कार किया गया है। यत्र-तत्र **दशरूपक** की अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना भी की गयी है। रूपक के द्वादश भेदों का निरूपण, रसों का सुखात्मक-दुःखात्मक वर्गों में विभाजन, कतिपय नवीन रसों की कल्पना, अङ्क-सन्धि आदि की रचना एवं लक्षणों के विषय में नवीन दृष्टि अपनाने के कारण **नाट्यदर्पण** का विशेष महत्त्व है।

(३) **हैमबृहद्वृत्तिन्यास**– यह हेमचन्द्र प्रणीत **सिद्धहैम** व्याकरण पर आधारित न्यास है।

(ग) **काव्य–** (१) **कुमारविहारशतक–** इस काव्य की रचना कुमारपाल द्वारा निर्मित कुमारविहार की प्रशंसा में की गयी है। इसमें ११७ पद्य हैं। प्रारम्भिक ८ पद्यों में पार्श्वनाथ की स्तुति एवं बाद में कुमारविहार के वैभव एवं महात्म्य का वर्णन है। सुधाभूषणगणि ने इस पर **अवचूर्णि** नामक टीका भी लिखी है।

(२) **सुधाकलश– नाट्यदर्पण** में प्राप्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह काव्य प्राकृत में है।[49] **बृहट्टिप्पणिका**[50] में इसे सुभाषित कोष के रूप में बतलाया गया है।

(३) **दोधकपञ्चशती– पुरातनप्रबन्धसंग्रह** के अनुसार अजयपाल ने जब रामचन्द्र को अग्नि पर बैठने की आज्ञा दी तब उन्होंने **दोधकपञ्चशती** की रचना की थी।[51] इसके शीर्षक से स्पष्ट है कि इसमें दोधक छन्द में पाँच-सौ पद्य थे। यह कृति अनुपलब्ध है।

(घ) **स्तोत्र–** महाकवि रामचन्द्रसूरि विरचित स्तोत्रों[52] में श्रीयुगादिद्वात्रिंशिका, व्यतिरेकद्वात्रिंशिका, प्रसादद्वात्रिंशिका, अपह्नुतिद्वात्रिंशिका, अर्थान्तरन्यासद्वात्रिंशिका, जिनस्तुतिद्वात्रिंशिका, दृष्टान्तगर्भस्तुतिद्वात्रिंशिका और भक्त्यातिशयद्वात्रिंशिका में बत्तीस-बत्तीस पद्य हैं। शान्तिद्वात्रिंशिका में केवल २८ पद्य ही उपलब्ध हैं। नेमिस्तव और श्रीमुनिसुव्रतदेवस्तव में चौबीस-चौबीस पद्य हैं। षोडशिका नाम से विख्यात १७ स्तोत्रों में सोलह-सोलह पद्य हैं। इसी प्रकार आदिदेवस्तव एवं जिनस्तोत्र भी उनके प्रबल भक्ति भाव के द्योतक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि रामचन्द्रसूरि एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे। उन्होंने केवल नाटक एवं काव्य ही नहीं लिखे, वरन् न्याय, व्याकरण और नाट्यशास्त्र पर भी साधिकार लेखनी चलायी। अतः इस महान् विभूति की रचनाओं का यथोचित अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

**सन्दर्भ :–**


१. आ० विश्वेश्वर, **हिन्दी नाट्यदर्पण**, भूमिका, पृ. ८;
   प्रो० जे० एच० दवे, **कौमुदीमित्राणन्द**, भूमिका, पृ. ६
२. **नलविलास**, पृ. १; **रघुविलास**, पृ. १; **सत्यहरिश्चन्द्र**, पृ. २
३. **पुरातनप्रबन्धसंग्रह**. पृ. ४६
४. **रघुविलास** १/२
५. **नाट्यदर्पण**, अवतरणिका श्लोक ६

६. रघु० १/३
७. **कौमुदीमित्राणन्द**, पृ. १
८. **प्रभावकचरित**, २२/१२६-३६
९. **नल०**, भूमिका, पृ. २४
१०. **प्रभावकचरित**, २२/१२६-३७
११. **उपदेशतरंगिणी**, पृ. ६२
१२. **प्रबंधचिन्तामणि**, पृ. ६४
१३. वही, पृ. ८६
१४. **कुमारपालचरित**, दशम सर्ग
१५. **प्र० चि०**, पृ. ६४
१६. **प्रभा० च०**, २२/१३७-३६
१७. **हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर**, पृ. ६४३-४४
१८. **हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल**, पृ. १३
१९. जगति पूर्वविधेर्विनियोगजं त्रिधिनतान्ध्य गलत्तनुताऽऽदिकम्-**व्यतिरेकद्वात्रिं**.
२०. **प्र. चि.**, पृ. ९७
२१. **प्रबन्धकोश**, पृ. ९८; **कुमारपालचरित**, १०/१०७-१४;
**कुमारपालप्रबन्ध**, पृ. ११३
२२. **पुरातनप्रबन्धसंग्रह**, पृ. ४९
२३. **नल.**, १/३; **कौमुदी.**, १/३
२४. **ना. द.**, १/५ की वृत्ति
२५. वही, ३/२८ की वृत्ति
२६. **प्र. चि.**, पृ. ६३, ८९, ९७
२७. **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**, पृ. ५२१
२८. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, भाग १, पृ. ५७४
२९. **दि नाट्यदर्पण आफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र : ए क्रिटिकल स्टडी**, पृ.२१९. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी (**जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ६, पृ. ५७४), प्रो० साण्डेसरा (**हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल**, पृ. ५) और प्रो० दवे (**रघुविलास**, भूमिका, पृ. vi) ने **नलविलास** (भूमिका, पृ. ३५) के सम्पादक लालचन्द्र गान्धी के आधार पर रामचन्द्र का जन्म सं. ११४५, दीक्षा ११५०, सूरिपद-प्राप्ति ११६६, पट्टधरत्व १२२९ और

मृत्यु १२३० में मानी है। परन्तु ये तिथियाँ रामचन्द्र की नहीं हैं, बल्कि उनके गुरु हेमचन्द्र की हैं।

३०. **प्रभा. च.**, २२/१३५

३१. **जैनपुस्तक प्रशस्ति संग्रह**, पृ. १०३; **पालिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज**, पृ. ११२

३२. **नल०**, भूमिका, पृ. २७

३३. **संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान**, पृ. ७०

३४. **नल.**, २/२

३५. **प्र. चि.**, पृ. ६७; **निर्भयभीम.**, पृ. १; **मल्लिका.**, पृ. २

३६. **कौमुदीमित्राणन्द**, भूमिका, पृ. ix

३७. **दि नाट्यदर्पण : ए क्रिटिकल स्टडी**, पृ. २१९-२०

३८. **रघुविलास**, १/३ एवं आगे

३९. **नाट्यदर्पण.** १/३२, १/३३, १/३६, १/४३, १/४४, १/४५, १/६२ १/६३, ३/२१ की वृत्ति

४०. वही, १/२९, १/४४, १/५३, १/५८, १/६३, १/६५ की वृत्ति

४१. **रघुविलास**, पृ. १; **सत्यहरिश्चन्द्र.**, पृ. २; **कौमुदी.**, पृ. १

४२. डॉ० मुसलगाँवकर : **आचार्य हेमचन्द्र**, पृ. ४०

४३. **मल्लिका.**, पृ. २

४४. डॉ० ए० बी० कीथ : **संस्कृत नाटक** (हिन्दी), पृ. २७६;
डॉ० डे : **ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर**, पृ. ४७६;
डॉ० रामजी उपाध्याय : **मध्यकालीन संस्कृत नाटक**, पृ. १८५

४५. **नाट्यदर्पण**, १/४३, १/४५ की वृत्ति

४६. वही, ३/२१ की वृत्ति

४७. प्रो० दवे : **रघुविलास**, भूमिका, पृ. ix

४८. **नलविलास**, भूमिका, पृ. ३५

४९. **नाट्यदर्पण**, ३/२५ की वृत्ति

५०. **नलविलास**, भूमिका, पृ. ३५, टिप्पणी नं० १

५१. **पुरातन प्र. सं.**, पृ० ४९

५२. **जैन स्तोत्र संदोह**, सम्पा० मुनि चतुरविजय जी

★

# 'वसंतविलास' में वर्णित धार्मिक तथ्य

—डा केशव प्रसाद गुप्त

जैन-संस्कृत-वाङ्मय विविध काव्य-रत्नों का अगाध भण्डार है। समय-समय पर अनेक जैनाचार्यों एवं कवियों ने विविध काव्यों का प्रणयन कर इस साहित्य की श्रीवृद्धि की है। तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में चन्द्रगच्छीय जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के पट्टधर शिष्य बालचन्द्रसूरि ने **वसंतविलास**[1] महाकाव्य की रचना की, जो अपनी विशिष्ट मौलिकता के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चौदह सर्गो में उपनिबद्ध **वसंतविलास** वीर रस प्रधान एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें ऐतिहासिकता एवं साहित्यिकता के साथ ही उच्चकोटि की धार्मिकता भी विद्यमान है। इसकी रचना काव्य-नायक महामात्य वस्तुपाल की मृत्यु (वि. सं. १२९६) के उपरान्त, उसके पुत्र जैत्रसिंह के अनुरोध पर की गयी थी।[2] इस काव्य में तत्कालीन धार्मिक स्थिति एवं धार्मिक तथ्यों का सम्यक् निरूपण किया गया है।

## धर्म का स्वरूप

'धर्म' का अर्थ है धारण करना या मिलाये रखना। अतएव जो भाव या वस्तु मनुष्यों को एक दूसरे से मिलाये रखे, उसे धर्म कहते हैं।[3] धर्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए विद्वानों ने समय-समय पर इसकी अनेक परिभाषायें बनायी हैं। महर्षि कणाद के अनुसार 'धर्म वह है, जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो।'[4] यहाँ अभ्युदय का अभिप्राय 'लौकिक उन्नति' और निःश्रेयस का 'मुक्ति' से है। **भागवत पुराण** में विद्या, दान, तप एवं सत्य को धर्म के चार चरण (पद) के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि धर्म इन्हीं के अनुरूप हो सकता है। **वसंतविलास** में धर्म के स्वरूप का जो प्रतिपादन हुआ है, वह **भागवत पुराण** के वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। धर्म स्वयं कहता है कि सतयुग में उसके चार, त्रेता में तीन और द्वापर में दो पैर थे। इस कलियुग में उसका केवल एक ही पैर अवशिष्ट रह गया है। सम्भवतः इसीलिए कवि ने निद्रावस्था में वस्तुपाल के समक्ष धर्म को लँगड़ाते हुए दर्शाया है।[5]

कवि ने **वसंतविलास** में धर्म के महत्त्व को निम्नाङ्कित रूप में प्रस्तुत किया है—

धर्मः शर्मनिबन्धनं तनुमतां धर्मः कुकर्मद्रुम-
प्लोसे तत्क्षणमाशुशुक्षणिरिति श्रुत्वा गुरूणां गिरः। १४/१

**शैव धर्म**

भारतीय समाज में अति प्राचीनकाल से ही शैव धर्म की प्रतिष्ठा रही है। इस धर्म के समर्थकों के आराध्य देव शिव हैं। तत्कालीन समाज में शैव धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

वीरधवल के शासन काल में महामात्य वस्तुपाल यद्यपि जैन धर्म का अनुयायी था, फिर भी शिव के प्रति उसकी अपार निष्ठा थी। संघ यात्रा के समय उसने सोमनाथ की भी यात्रा की थी, और सोमेश्वर मन्दिर में शिवलिङ्ग को स्नान कराकर धूप, दीप, नैवेद्य व आरती द्वारा शिव का पूजन किया था। उसने वहां प्रभूत धनराशि का दान भी किया था।

**वसंतविलास** में शैव एवं जैन धर्मों का प्रतिस्पर्धात्मक स्वरूप कहीं भी परिलक्षित नहीं होता है, अपितु कुछ स्थलों पर उनके सामान्य स्वरूप के ही दर्शन होते हैं। गिरिनार व कैलाश पर्वतों का साम्य निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

विभाति कैलाश इवेश्वरेण शिवाङ्गभाजा वृषभासितेन।
श्रीनेमिनाथेन कृताधिवासः शिवाङ्गभाजा वृषभासितेन॥ १२/१५

यहाँ नेमिनाथ, शिवा (राजीमती), वृषभ (चिन्ह), आदि से सुशोभित गिरिनार की उपमा शिव, शिवा (पार्वती) एवं वृषभ (नन्दी) से सुशोभित कैलाश से दी गयी है।

**जैन धर्म**

**वसंतविलास** के अध्ययन से तत्कालीन समाज में जैन धर्म की सुदृढ़ स्थिति का पता चलता है। वस्तुतः प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र का प्रभाव कुछ चौलुक्य शासकों पर अवश्य पड़ा था। उनका समसामयिक शासक सिद्धराज जयसिंह यद्यपि शैव धर्म का समर्थक था, फिर भी उसने जैन धर्म के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसने कई राजविहारों का निर्माण कराया और शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए बारह ग्राम दान स्वरूप प्रदान किये थे।[6]

चौलुक्य सम्राट कुमारपाल पहले शिव का उपासक था, लेकिन आचार्य हेमचन्द्र से प्रभावित होकर उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। उसके

शासन काल में जैन धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ और इसका व्यापक प्रचार भी हुआ। उसने कई जैन मन्दिरों एवं विहारों का निर्माण कराया और मूर्तियों की स्थापना भी करायी।[7]

जैन धर्म को सबल समर्थन तत्कालीन वणिक वर्ग से प्राप्त हुआ। प्राग्वाट-वंशी चण्डप्रसाद ने जिनदेव की कृपा से उन्नति की थी। चण्डप के पुत्र सोम के लिए जिन देव ही सर्वश्रेष्ठ देव थे। वस्तुपाल के पिता अश्वराज (आशाराज) ने अपनी माता सीता सहित सात बार शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की थी।[8]

भ्रातृद्वय वस्तुपाल और तेजपाल जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे। वस्तुपाल ने अपनी संघयात्रा में संघाधिपति का पद ग्रहण कर जैनों के प्रमुख तीर्थस्थल शत्रुञ्जय पर स्थित तीर्थंकर आदिनाथ एवं रैवतकगिरि (गिरिनार पर्वत) पर स्थित जिनेश्वर नेमिनाथ के मन्दिरों की भव्य यात्रा की थी। जैन धर्म के उत्थान के लिए उसने तीर्थस्थानों का जीर्णोद्धार, और कूप, वापी, सरोवर, पोषधशालाओं आदि का निर्माण कराया। **बसंतविलास** में उसके धार्मिक एवं लोकोपकारी कृत्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।[9] इसी प्रकार उसके अनुज तेजपाल द्वारा जैन धर्म के उत्थान के लिए किये गये कार्यों के भी स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं।[10]

**देव प्रतिष्ठा**

तत्कालीन समाज में तीर्थंकरों के अतिरिक्त हिन्दुओं के आदि देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश का भी विशेष महत्त्व था। ब्रह्मा सृष्टि के रचयिता के रूप में और विष्णु पालनकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित थे। **बसंतबिलास** में विष्णु के दश अवतारों– मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, हृशीकेस एवं कल्कि-का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

महेश या शिव महादेव के रूप में प्रतिष्ठित थे। रैवतक-वर्णन-प्रसङ्ग में शिव का भव्य स्वरूप द्रष्टव्य है—

कण्ठेकालः साम्बुभिः शेषभागे भस्मोद्धूलिं व्यम्बुभिश्चाम्बुवाहै।
शीर्षप्रेङ्खद्वल्लरीभिर्जटावान् साक्षादग्रे ते गिरीशो गिरीशः॥ १२/३४

अन्य देवी-देवताओं में सरस्वती, लक्ष्मी एवं गणेश का महत्त्वपूर्ण स्थान था। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की वन्दना से ही काव्य का शुभारम्भ

हुआ है ।[11] लक्ष्मी धन की देवी के रूप में प्रतिष्ठित थीं । **बसंतविलास** में इन्हें कमला कहा गया है और सरस्वती से इनके कलह का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार एक स्थल पर गणेश द्वारा अपने सुण्ड से फुहार करते हुए उनके केलि करने का उल्लेख है ।

जैन तीर्थंकर भी देव रूप में प्रतिष्ठित थे। ऋषभदेव (आदिनाथ), नेमिनाथ, चन्द्रप्रभ एवं पार्श्वनाथ का यशोगान काव्य में विस्तार से किया गया है ।

## मूर्त्ति पूजा

**बसंतविलास** में मूर्त्तिपूजा का भव्य निरूपण किया गया है । संघाधिपति वस्तुपाल ने संघयात्रा के समय मार्ग में पड़ने वाले सभी देवों का पूजन किया था । संघ के वल्लभिपुर पहुंचने पर उसने वहाँ के मन्दिरों की देव-प्रतिमाओं का दर्शन एवं पूजन किया । पादलिप्तपुर में उसने पापनाशक पार्श्वनाथ की विधिवत पूजा की ।

संघ के शत्रुञ्जय पर्वत पहुंचने पर यात्रियों ने कपर्दिन (यक्ष) की पूजा की । तदनन्तर मुख्य देव आदिनाथ के मन्दिर में सबसे पहले स्वर्णनिर्मित कलशों से मूर्त्ति को स्नान कराया गया । मूर्त्ति पर चन्दन, कुंकुम, अगर, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप करके कंकण, मुकुट, कुण्डल, स्वर्णनिर्मित जंजीर आदि से उसे अलंकृत किया गया और बाद में मूर्त्ति के समक्ष दीपक प्रज्ज्वलित कर आदिनाथ का अष्टविधि पूजन सम्पन्न हुआ ।

संघ के प्रभास पाटन पहुंचने पर वस्तुपाल ने अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की पूजा की । इसके बाद सोमनाथ के मन्दिर में जाकर उसने मूर्त्ति को दण्डवत् प्रणाम एवं उसका आलिङ्गन किया । यहाँ शिवलिङ्ग को पञ्चामृत से स्नान कराया गया, उस पर कृष्णागुरु तथा चन्दन का लेप किया गया और मूर्त्ति को रेशमी वस्त्र से अलंकृत किया गया । वहाँ वेदी बनाकर नैवेद्य अर्पित किया गया । मूर्त्ति को माला पहनायी गयी और दीपक जलाकर आरती की गयी ।

संघ के गिरिनार पर्वत के समीप पहुंचने पर पर्वत के पाद-प्रदेश में स्थित आदिनाथ के पूजन के पश्चात पर्वत पर स्थित मुख्य मन्दिर में नेमिनाथ का भव्य पूजन हुआ । यहाँ मूर्त्ति को स्नान कराने के बाद उस पर चन्दन, कस्तूरी,

कृष्णागुरु आदि का सुगन्धित लेप किया गया और अनेक प्रकार के वस्त्र चढ़ाये गये। तीर्थंकर नेमिनाथ का अष्टविधि पूजन कर उनकी स्तुति की गयी।

## दान

इहलोक तथा परलोक में सुख-समृद्धि हेतु दान के माहात्म्य को प्रायः सभी धर्म स्वीकार करते है। **वसंतविलास** में वस्तुपाल द्वारा विभिन्न तीर्थस्थानों में दिये गये दान का अनेकशः उल्लेख हुआ है। आदिनाथ के पूजन के पश्चात वस्तुपाल ने प्रभूत धनराशि का दान किया था। चन्द्रप्रभ के पूजन के समय उसने ब्राह्मणों को रत्नाभूषण देकर सन्तुष्ट किया था। सोमेश्वर तीर्थ में वस्तुपाल द्वारा दिये गये तुलादान का उल्लेख मिलता है। उस समय महत्त्वपूर्ण कार्यों की सकुशल समाप्ति पर दान करने की प्रथा थी। संघयात्रा के सकुशल सम्पन्न होने पर वस्तुपाल ने याचकों में प्रचुर धनराशि का वितरण किया। धन के अतिरिक्त दान में ग्राम,अन्न आदि देने का भी प्रचलन था। सिद्धराज जयसिंह ने शत्रुञ्जय तीर्थ की सुव्यवस्था के लिए बारह ग्रामों का दान किया था। एक स्थल पर तेजपाल द्वारा अकाल में अन्नदान करने का उल्लेख मिलता है।

## परलोक

मनुष्य को अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों के फलों का भोग करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी धर्म थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ स्वर्ग, नरक, परलोक आदि की सत्ता स्वीकार करते हैं। **वसंतविलास** में कई स्थलों पर परलोक की चर्चा की गयी है। चौलुक्यनरेश चामुण्डराज को स्वर्ग की कीर्ति को जीतने वाला कहा गया है। वस्तुपाल एवं तेजपाल की उपमा देवलोक के इन्द्र व उपेन्द्र से दी गयी है। उस समय लोगों का विश्वास था कि तुच्छ व हीन कर्म करने से मनुष्य का अधःपतन हो जाता है और उसे नरक भोगना पड़ता है। **वसंतविलास** में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ऐसे राजा जो धन के लोलुप होते हैं और प्रजारञ्जन में दत्तचित्त नहीं होते हैं, वे अपने दुष्कृत्यों के कारण रौरव नरक में पड़ते हैं।[12] सम्राट कुमारपाल को लोकद्वय (इहलोक व परलोक) का उद्धार करने वाला कहा गया। इसी प्रकार दुर्लभराज सरोवर को भोगावती और अमरावती से भी अधिक वैभव-सम्पन्न बतलाया गया।

स्वर्ग की सत्ता ऊपर मानी जाती थी। **वसंतविलास** में धर्म को स्वर्ग से उतरते हुए दर्शाया गया है। उस समय सप्तर्षि उनकी वन्दना कर रहे थे;

दिक्पाल पीछे-पीछे चल रहे थे; विरञ्चिपुत्र नारद छत्र धारण किये हुए थे। इसी प्रकार विवाहोपरान्त सद्गति सहित वस्तुपाल को स्वर्ग ले जाने के वर्णन से तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।[13]

## मुहूर्त एवं शकुन

रण-प्रयाण, धार्मिक यात्रा, विवाह आदि के समय मुहूर्त एवं शकुन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। युद्ध हेतु प्रस्थान करते समय वस्तुपाल के सैनिक मस्तक पर तिलक लगाये हुए थे। शुभ दिन पर ही उन्होंने युद्ध हेतु प्रस्थान किया था। उस समय मुहूर्त पर भी ध्यान दिया जाता था। संघयात्रा के प्रस्थान से पूर्व गुरु विजयसेन सूरि ने शुभ मुहूर्त में वस्तुपाल को संघाधिपति नियुक्त किया था। उस समय विविध प्रकार के माङ्गलिक कृत्य भी किये गये थे। वस्तुपाल व सद्गति के विवाह-प्रसङ्ग में सद्बोध लग्नादि की सूचना लेकर आया था।

## धार्मिक यात्रायें

उस समय धार्मिक कृत्यों में तीर्थयात्राओं का विशेष महत्त्व था। **वसंतविलास** में वस्तुपाल के पिता अश्वराज द्वारा अपनी माता को साथ लेकर सात बार शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा करने का उल्लेख किया गया है। राजकीय स्तर पर संघ बनाकर भी तीर्थयात्रायें की जाती थीं। **वसंतविलास** में वर्णित वस्तुपाल की संघयात्रा इसी कोटि की यात्रा थी। तीर्थयात्रा के लिए राजा वीरधवल से अनुमति प्राप्त करने के पश्चात वस्तुपाल ने राज्य-भार को अपने अनुज तेजपाल पर छोड़कर, गुरु के आदेश से चारों ओर पत्रिकायें भेजीं। शुभ दिन पर गुरु विजयसेन सूरि ने वस्तुपाल को संघाधिपति नियुक्त किया। तीर्थ-यात्रा के लिए चार मण्डलों के मण्डलाधिप पहले से ही उपस्थित थे। निर्धारित तिथि पर लाट, गौड़, मरु, कच्छ, डाहल, अवन्ति, वङ्ग आदि प्रदेशों के संघ-पति अपने यात्रियों सहित आ गये। वस्तुपाल ने विविध प्रकार के उपकारों द्वारा उनका स्वागत किया और सभी के लिए आवश्यक वस्तुयें व सुविधायें प्रदान कीं।

बड़े हर्षोल्लास के साथ यात्रा प्रारम्भ हुई। मार्ग में पड़ने वाले सभी तीर्थों का जीर्णोद्धार, सफाई व साज-सज्जा का कार्य पहले से ही पूरा कर लिया गया था। वल्लभिपुर पहुंचकर संघ ने विश्राम किया। यहाँ वस्तुपाल की पत्नी ललिता देवी ने भक्ति व निष्ठा पूर्वक यतियों तथा मुनियों को भोजन कराया।

गुरु विजयसेन सूरि ने दूर से दिखाई पड़ने वाले विमलगिरि (शत्रुञ्जय पर्वत) की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया। यहाँ से आगे चलकर संघ पादलिप्तपुर पहुंचा। वहां वस्तुपाल ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पूजा की। तत्पश्चात तीर्थयात्रियों ने पर्वत पर चढ़ना आरम्भ किया। ऊपर पहुंचने पर पहले कपर्दिन की पूजा की गयी। तदनन्तर आदिनाथ के मन्दिर में व्यापक रूप से पूजन करके दान, संगीत, नृत्यादि का आयोजन किया गया।

शत्रुञ्जय-यात्रा को सम्पन्न कर संघ प्रभास पाटन पहुंचा। वहाँ यात्रियों ने प्रियमेल तीर्थ में स्नान किया। तदनन्तर अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की पूजा कर वस्तुपाल ने ब्राह्मणों को स्वर्ण और आभूषणों का दान दिया। वहाँ से संघ सोमेश्वर मन्दिर पहुंचा। वहाँ पर वस्तुपाल ने शिवलिङ्ग का यथाविधि पूजन कर तुलादान किया।

वहाँ से संघ रैवतक गिरि (गिरिनार पर्वत) की ओर बढ़ा। पर्वत के पादप्रदेश में पहुंचकर वस्तुपाल ने तेजपाल द्वारा बसाये 'तेजपालपुर' नामक नगर एवं अपनी माता कुमार देवी की स्मृति में बनवाये गये 'कुमारसर' नामक सरोवर को देखा और पर्वतों के पादप्रदेश में स्थित आदिनाथ की पूजा की। तत्पश्चात संघयात्रियों ने पर्वत पर चढ़ना आरम्भ किया और ऊपर पहुंचकर नेमिनाथ का दर्शन व भव्य पूजन किया। यहाँ यात्रियों ने अम्बिका, आलोकन, साम्ब, प्रद्युम्न आदि पर्वत शिखरों का अवलोकन भी किया। इस प्रकार विभिन्न तीर्थों की यात्रा कर संघ धवलपुर वापस आया।

उपर्युक्त धार्मिक यात्रा महामात्य वस्तुपाल के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यात्रा थी। इसकी पुष्टि **कीर्तिकौमुदी** [14] एवं **सुकृतसंकीर्तन** [15] काव्यों में प्राप्त वर्णनों से भी होती है।

## विविध दार्शनिक तत्त्व

**वसंतविलास** में यत्र-तत्र दार्शनिथ तत्त्वों के कुछ विवरण भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि इसमें किसी भी दर्शन के सिद्धान्तों का भलीभाँति और स्पष्ट प्रतिपादन नहीं हुआ है, फिर भी कवि के अधोलिखित कथन में विविध दर्शनों का नामोल्लेख अवश्य हुआ है—

जैनेन्द्रवैशेषिकसांख्यबौद्धनैयायिकाजैमिनयश्च येऽमी।
ते साम्प्रतं दर्शनानि क्व यान्तु कदर्थ्यमाने मयि दुर्युगेन ॥ ९/३२

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं के संघटन से हुई है।[16] **वसंतविलास** में कवि ने अपने जन्म-स्थान मोढेरक की उत्पत्ति बतलाते समय परमाणु सिद्धान्त की पुष्टि की है—

सारैरुदोरैः परमाणुभिर्यत्पुरं विरञ्चः पुरतोविधाय।
ततोऽवशिष्टैर्जगदप्यशेषं यथाविशेषं घटयाञ्चकार ॥ १/४४

योग दर्शन में समाधि दो प्रकार की बतायी गयी है- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात में ध्याता और ध्येय का पृथक भाव बना रहता है।[17] **वसंतविलास** में कवि बालचन्द्र सूरि को योगनिद्रावस्था में सरस्वती के दर्शन एवं उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने की घटना का वर्णन है।[18] इस प्रसङ्ग से योग दर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि की परिपुष्टि होती है।

जैन दर्शन में सर्वत्र हिंसा का प्रबल विरोध प्राप्त होता है। **वसंतविलास** में इस दर्शन के अहिंसावाद को एक स्थल पर प्रस्तुत किया गया है। रैवतक पर्वत के वर्णन-प्रसङ्ग में कवि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजीमती के पाणिग्रहण के समय वरयात्रियों के भोजन के लिए बाड़े में एकत्रित किये गये पशुओं को देखकर नेमिनाथ को हिंसा के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो गयी और उन्होंने संसार से खिन्न होकर कल्याण के सोपान-स्वरूप इसी पर्वत का आश्रय ग्रहण कर लिया—

राजीमतीपाणिनिपीडनोद्यमे विलोक्य भोज्यार्थमुपहृतान्यशून्।
संसारनिर्विण्णमना जिनाधिपः शिवैकसोपानमिवैनमासदत् ॥ १२/४३

**वसंतविलास** में वर्णित धार्मिक तथ्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में जन सामान्य से लेकर राजा-महाराजाओं तक धर्म का पक्ष लेकर किसी प्रकार कोई पारस्परिक वैमनस्य नहीं था, अपितु धर्म के प्रति सभी लोगों की महती आस्था और अपार निष्ठा थी। **वसंतविलास** में कहीं भी किसी धर्म की मान्यताओं की अवहेलना नहीं की गयी है। निस्सन्देह, बालचन्द्र सूरि कृत **वसंतविलास** धार्मिक समन्वय की दृष्टि से अपने युग का एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न है।

**सन्दर्भ :–**

१. गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा, १९१७ ई०
२. श्री जैत्रसिंहस्य मनोविनोदकृते काव्यमिदमुदीर्यते ह। व० वि०, १/७५
(शेष पृष्ठ ५६ पर)

# सन् १९२० के दशक की एक लघु तीर्थयात्रा–एक संस्मरण

–श्री अजित प्रसाद जैन

तीर्थंकरों के पंच कल्याणक स्थल हमारी धार्मिक आस्था के प्रेरणा स्रोत हैं। उनमें से अधिकांश वन प्रान्तरों के बीच या जैन जन विहीन स्थलों पर अवस्थित रह गये हैं तथा जो किसी समय जैन बहुल समृद्धिशाली बस्तियाँ थीं, आज रेल-राजमार्ग से दूर निर्जन स्थान रह गई हैं।

तीर्थंकरों के कल्याणकों से धन्य हुए क्षेत्रों पर तथा अतिशय क्षेत्रों पर दैवी चमत्कारो से आकर्षित हुए श्रद्धालु श्रावक युगों-युगों से सुदूर स्थानों से मार्ग के अनेक कष्टों को सहकर यात्रा करके अपना मनुष्य जन्म सफल करते रहे हैं तथा उनकी पुण्यशीला भूमि का दर्शन-स्पर्शन कर असीम शान्ति का अनुभव करते रहे हैं। अब से १००-१५० वर्ष पूर्व तक गुजरात, राजस्थान व दिल्ली के धर्मनिष्ठ श्रेष्ठियों द्वारा श्री सम्मेद शिखर जी तथा मार्ग के

---

(पृष्ठ ५५ का शेष)

३. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन : 'धर्म क्या सिखाता है?', शोधादर्श, अङ्क २१, पृ. ५

४. यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। कणादसूत्र, १/१/२

५. एकाङ्घ्रिमेकं सुरमुत्तरन्तं दिवो ददर्शातिशयैः स्फुरन्तम्। व० वि०, ६/१

६. श्रीसिद्धराजः समधत्त राजविहारमाक्रीडनगोपमं मे।
ग्रामांश्च शत्रुञ्जयसाच्चकार स द्वादशाऽस्मन्महसःप्रवृद्ध्यै॥ व. वि., ६/२२

७. वही, ३/२७

८. वही, ३/५४

९. वही, १४/९-१०

१०. वही, ५/५

११. सरस्वती वः कवितावितान्तकुमुद्वतीमन्वहसद्वितीयम्। वही, १/१

१२. वही, ३/७८

१३. वही, ९/२

१४. सोमेश्वर : **कीर्तिकौमुदी**, सर्ग ९

१५. अरिसिंह ठक्कुर : **सुकृतसंकीर्तन**, सर्ग ७-१०

१६. डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल : **नैषधपरिशीलन**, पृ० ३५६

१७. **नैषधपरिशीलन**, पृ० ३७५

१८. व० वि०, १/७०

★

अन्य सभी तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा के लिए ले जाए गए बड़े तीर्थ यात्रा संघों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें बैलगाड़ियों में तथा पैदल यात्रा करते हुए कई महीनों में यात्रा पूरी होती थी। यात्रा संघ में मार्ग में दर्शन-पूजन की सुविधा के लिए पालकी में जिन प्रतिमा भी चलती थी, रात्रि विश्राम के लिए छकड़ों में डेरे-तम्बू, रसोढा तथा अन्य आवश्यक सामग्री, यात्रियों के लिए बैलगाड़ियां तथा मार्ग में चोर-डाकुओं से सुरक्षा के लिए सशस्त्र रक्षकों आदि की सारी व्यवस्था संघपति द्वारा की जाती थी। श्री सम्मेद शिखर जी जैसे सुदूर तीर्थों की यात्रा तो इतनी दुष्कर होती थी कि परिजन उनके वापस लौटने की क्षीण आशा रखकर ही तीर्थयात्रियों को अश्रुपूर्ण विदाई देते थे।

अभी इसी शती के सन् २० के दशक की केवल २२ मील की एक लघु तीर्थ यात्रा की मधुर स्मृति हमें अभी तक है। इस अवसर्पिणी काल में दान-तीर्थ के प्रवर्तन की भूमि जो कालान्तर में शान्ति-कुन्थ-अरह तीन तीर्थंकर भगवन्तों के चार कल्याणकों से पवित्र हुई तथा जो तीर्थंकर मल्लिनाथ के समवशरण से भी स्पर्शित होकर धन्य हुई थी और जो प्रतापी कुरुवंशी सम्राटों की समृद्ध राजधानी रही थी, वह हस्तिनापुर महानगरी मध्यकाल में उजड़ कर घोर बियावान जंगल में परिवर्तित हो गयी थी। अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व दिल्ली निवासी ला० हरसुखराय जी तथा उनके सुपुत्र राजा शुगन चन्द्र जी ने इस क्षेत्र का पुनरुद्धार कर वहाँ एक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण पंचायत के सहयोग से कराया था तथा तभी से कार्तिकी पूर्णिमा पर एक पंच दिवसीय धार्मिक मेले का आयोजन इस क्षेत्र पर होने लगा था जिसमें दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर आदि निकटवर्ती ज़िलों के जैन बन्धु बड़े उत्साह और भक्तिभाव से भाग लेते थे। अब तो आवागमन के साधन विकसित हो जाने के कारण दूर-दूर से यात्री-गण आने लगे हैं तथा मेला भी सिमट कर एक-दो दिन का ही रह गया है।

हाँ, तो बात सन् १९२५ के कार्तिकी पूर्णिमा मेले की है। मेरठ नगर से प्रायः सभी जैन परिवारों के एकाधिक व्यक्ति २२ मील की दूरी पर स्थित श्री हस्तिनापुर जी यात्रा को जा रहे थे। नगर के जैन परिवारों में मेले को लेकर एक अजब उत्साह का वातावरण बना हुआ था। हमारा पूरा परिवार (पिता जी, माता जी, बड़े भाई, बहन व हम) भी यात्रा को जा रहा था। माता जी मेले में तीन दिन के प्रवास के लिए जलपान व भोजन के व्यंजन—पूड़ी, लड्डू, पंजीरी, मठरी, सब्जी आदि बनाती रहीं। संध्या को एक बैलगाड़ी हमारे दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई जिसमें बिस्तर व अंगीठी कोयला सहित

अन्य सब आश्यक सामग्री लाद दी गई। रात्रि में लगभग १०-११ बजे हमारी बैलगाड़ी ने भी हस्तिनापुर क्षेत्र की जय तथा शान्ति-कुन्थ-अरहनाथ तीर्थंकरों की जयकार के साथ यात्रा के लिए प्रस्थान किया। नगर के बाहर निकल कर गाड़ी एक पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर रुक कर अन्य गाड़ियों की प्रतीक्षा करने लगी। थोड़ी ही देर में जब यह इत्मीनान हो गया कि सभी यात्री-गाड़ियां आ गई हैं तो लगभग ५०-५० गाड़ियों का काफला विनती व भजन गाते-बजाते मवाना रोड पर चल पड़ा। सभी बैलगाड़ियों में प्रकाश के लिए लालटेनें लटक रही थीं। वैसे चांदनी भी छिटकी हुई थी। चोर-डाकुओं से सुरक्षा की दृष्टि से सभी गाड़ियां साथ-साथ चल रही थीं। कभी-कभी दो-दो चार-चार फर्लांग तक बैलगाड़ियों की रेस भी होती जाती थी जिसमें बड़ा आनन्द आता था। काफले के साथ मेरठ के मन्दिर के प्रतीक के रूप में एक पालकी में जिन प्रतिमा भी ले जाई जा रही थी जिसे कुछ उत्साही नवयुवक पूजा के शुद्ध वस्त्र पहन कर नंगे पैर अपने कंधों पर ले कर तेज चाल से चल रहे थे। प्रातः ४-५ बजे के लगभग यह काफला मवाने पहुंचा। वहाँ पर घण्टे भर के विश्राम में लोग-बाग दिशा-मैदान से फारिग हुए, हाथ-मुंह धोया तथा हल्का-फुलका जलपान किया। फिर वहाँ से काफला श्री हस्तिनापुर जी को गाते-बजाते चला तथा लगभग दो घन्टे में मन्दिर जी पहुंच गये। उस समय मन्दिर जी वाली ही केवल एक धर्मशाला थी जो पहले आए हुए यात्रियों से खचाखच भरी हुई थी। हमारे काफले को मन्दिर जी के बगल के मैदान में खड़ी की गई छोलदारियों में स्थान मिला। प्रतिमा जी को मन्दिर जी के सामने के मैदान में लगे एक मण्डप में स्थापित कर दिया गया जहां और ६-७ नगरों से भी इसी प्रकार लाई गई प्रतिमायें स्थापित थीं। शीघ्र ही छोलदारियों में अपना सामान व्यवस्थित कर लेने के बाद सभी जन स्नान करके निशियों जी की यात्रा के लिए नंगे पैर चल दिए। निशियों जी का मार्ग कच्चा व खूब रेत भरा था जो उस मौसम में तथा प्रातः काल का समय होने के कारण अत्यधिक ठंडा था। (अब तो पूरा मार्ग पक्का बन गया है।) मार्ग में जगह-जगह जंगली बेर तथा मकोय के झाड़ खड़े थे, अतः लौटते समय बालकों ने खूब बेर तोडे और खट्टे-मीठे बेरों व मकोय का खूब स्वाद लिया। यात्रा तथा क्षेत्र पर प्रवास हम बच्चों को एक मजेदार पिकनिक लगा।

उस दिन (त्रयोदशी को) तथा अगले दिन (चतुर्दशी को) प्रातः निशियों की यात्रा तथा श्री मन्दिर जी में पूजन-पाठ भजन-कीर्तन आदि के भक्तिपूर्ण रोचक कार्यक्रम रहे, दिन में हम सबने दूसरे गाँवों-कस्बों-नगरों के अपने

परिचितों व सम्बन्धियों से मिलने का तथा मेले का आनन्द लिया। दिन में ही मन्दिर जी के सामने के प्रमुख पंडाल में विशाल जनसमूह के बीच अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद का जोशीला नैमित्तिक अधिवेशन हुआ। परिषद का हाल ही में (दिसम्बर १९२३ में) दिल्ली में महासभा से अलग होकर कतिपय आधुनिक शिक्षा प्राप्त सुधारवादी प्रबुद्ध जनों द्वारा युग-पुरुष ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी के नेतृत्व में गठन किया गया था तथा हमारे अंचल की समाज में परिषद के सुधारवादी कार्यक्रमों के प्रति बहुत उत्साह था।

संध्या को भी मन्दिर जी में आरती-नृत्य के उपरान्त शास्त्र-प्रवचन होते थे। प्रवचनकारों में हमारे ही नगर के विद्वद्वर बा० रिषभदास जी मुख्तार प्रमुख थे। हमारे पुण्योदय से महान तपस्वी पूज्य ऐलक श्री पन्नालाल जी महाराज भी उस समय क्षेत्र पर विराज रहे थे और उनके दर्शन व प्रवचन का पुण्यलाभ भी प्रातः काल में प्राप्त हो रहा था। उस समय तक सैकड़ों वर्षों से उत्तर भारत में दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन नहीं हुए थे तथा दिगम्बर परम्परा के उत्कृष्ट साधक के रूप में ऐलक पदवीधारी साधु भी बिरले ही देखने में आते थे। यद्यपि उस समय श्री महावीर जी तथा कई अन्य स्थानों में भट्टारक गद्दियाँ थीं तथा कुछ भट्टारक श्री आहार लेने के समय पूर्ण दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते थे तथापि समाज उन्हें शिथिलाचारी ही मानती थी तथा उनकी गिनती पंच परमेष्ठियों में नहीं करती थी।

पूर्णिमा को मेले का प्रमुख दिन था। चतुर्दशी के अपरान्ह में यकायक आकाश में काले बादल छा गए तथा तेज आंधी चलने लगी। सारे मेले में भगदड़ मच गई, सब ओर त्राहि-त्राहि होने लगी। यदि आंधी थोड़ा और तेज हो गई तो सब डेरे-तम्बू उखड़ जायेंगे, उस ठंड में असमय की वर्षा से भीगने में जो दुर्गति होगी उसकी आशंका से सभी आतंकित थे। तभी सभी ने देखा कि श्री मन्दिर जी के उत्तुंग सिंहद्वार की छत पर करुणा के सागर योगीराज ऐलक श्री ध्यान लगाए कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं और बस चमत्कार हो गया। क्षण भर में आंधी थम गई तथा बादल भी बिना बरसे ही छंट गए। ऐलक महाराज की जय-जयकार से मन्दिर जी के आस-पास का सारा स्थल गूंज उठा।

अगले दिन पूर्णिमा को मेले का प्रमुख दिन था। उस दिन आसन्न संकट के टल जाने की प्रसन्नता से कुछ अधिक ही उत्साह एवं भक्ति के साथ श्री जी की रथ यात्रा निकली। तीसरे प्रहर रथ यात्रा की समाप्ति के पूर्व ही मेला उखड़ने लगा तथा हम भी अपनी वापसी की यात्रा पर चल पड़े। ★

# गोपाचल—इतिहास के आलोक में

**—श्री रामजीत जैन**

**शोधादर्श—१४** (पृ० १८-१६) में हम गोपाचल के पौराणिक महत्त्व पर प्रकाश डाल चुके हैं। यहां जैन आम्नाय से जुड़े कुछ ऐतिहासिक कथ्य-तथ्य दिये जा रहे है।

विक्रम संवत् ३१२ में कुन्तलपुर (वर्तमान सिंहौनिया) के राजा सूरसेन शिकार खेलते हुए गोपाचल आए। उन्हें कुष्ट रोग था। यहाँ पर उन्हें एक साधु के दर्शन हुए। साधु ने गोपाचल पर बने कुण्ड से जल पिया, जिससे राजा का कुष्ट दूर हो गया। राजा ने यहाँ दुर्ग बनाया तथा कुण्ड बनवाया जो सूरज-कुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

विक्रम की नौवीं शताब्दी में गोपागिर (गोपाचल) दुर्ग नगर कान्यकुब्ज देश में था और उसे कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के पुत्र आम ने अपनी राजधानी बनाया था। आम राजा के दरवार में बौद्ध भाषाकार, वर्धन कुंजर थे। वर्धन कुंजर सरस्वती के अनन्य भक्त थे। उन्हें अक्षय वचन गुटिका सिद्ध थी जिसे मुख में धारण करने पर उन्हें कोई वाद (शास्त्रार्थ) में पराजित नहीं कर सकता था। अनुश्रुति है कि एक समय जैन साधु बप्पभट्ट सूरि का आगमन आम के दरवार में हुआ। आध्यात्मिक चर्चा में किसी विषय पर वर्धन कुंजर से बहस छिड़ गई और दोनों में वाद-विवाद तय हुआ। निर्णायक बने राजा आम। बप्पभट्ट सूरि और वर्धन कुंजर के मध्य छह माह तक वाद चलता रहा। अन्त में बप्पभट्ट सूरि ने गिरादेवी (सरस्वती) का आह्वान किया और उनकी विजय हुई।

विक्रम की १६वीं शताब्दी में गोपाचल तीर्थक्षेत्र की गणना में आने लगा और भट्टारक मल्लिभूषण ने गोपाचल की यात्रा की।[2]

मूलसंघ बलात्कारगण की सूरत शाखा के भट्टारक अभयनन्दि के शिष्य श्री सुमतिसागर ने अपनी **तीर्थजयमाला** में, काष्ठासंघ नन्दीतट गच्छ के भट्टारक श्री भूषण के शिष्य श्री ज्ञानसागर ने **तीर्थ वन्दना** (गुजराती में) में और श्री जयसागर जी ने अपनी **तीर्थजयमाला** में ग्वालियर दुर्ग पर बावन-गजा का उल्लेख किया है। यह भगवान आदिनाथ की ५७ फुट ऊँची खड़गासन प्रतिमा

है जो पहाड़ की चट्टान से काटकर बनाई गई है। ये सभी उल्लेख विक्रम की १६वीं-१७वीं शती के हैं।

भारतवर्ष में केवल दो ही स्थान हैं जहाँ भगवान आदिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा हैं जो बावनगजा के नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनों ही प्रतिमायें मध्यप्रदेश में और विंध्याचल पर्वतमाला की शृंखला में हैं। एक बड़वानी के दक्षिण में नर्मदा नदी के तीर पर चूलगिरि पर तथा दूसरी स्वर्ण रेखा नदी के किनारे गोपाचल (ग्वालियर) दुर्ग पर है।

प्राय: उसी समय महाकवि रइधू ने गोपाचल को नगरों का गुरू अथवा पण्डित कहा है, यथा—

महिवीढ़ि पहाणउँ णं गिरिराणउँ।
सुरहँ वि मणि विभउ जाणिउँ॥
कउसीसहँ मंडिउ णं इहु।
पंडिउ गोवयलु णमि भणिउँ॥[4]

(अर्थात्, पृथ्वी मण्डल में प्रधान, गिरिराज (सुमेरु) के समान विशाल, देवताओं में विस्मय उत्पन्न करने वाला, भवन-शिखरों से मण्डित तथा पृथ्वी मण्डल के श्रेष्ठ पण्डित के समान गोपाचल नामक एक नगर कहा गया है।) और—

सुहलच्छि जसयरु ण रयणावरु।
बुहयण जुहु णं इंदउरु॥
सत्थत्थहिं सोहिव जणमणु।
मोहिउणं वरण चरहँ एहु गुरु॥[5]

(अर्थात्, सुख, समृद्धि एवं यश के लिए वह गोपाचल, रत्नाकर के समान आकर था, बुद्धजनों के समूहों से युक्त वह नगर मानों इन्द्रपुरी ही था। शास्त्राचार्यों से सुशोभित तथा जन-मन को आकर्षित करने वाले सर्वश्रेष्ठ नगरों का मानो यह गुरु ही था।)

रइधू ने गोपाचल को इतना महत्त्व क्यों दिया, इसका समाधान नवलशाह भेलसी निम्नलिखित चौपाई में करते हैं—

गोयलगढ़ के वासी वैश, आये जहँ श्री आदि जिनेश।
चरण कमल प्रणमें धरि शीश, अरु स्तुति की जगदीश॥

तब प्रभु कृपाकन्त अति भये, श्रावक व्रत तिनहू को दये।
क्रिया चरण की दीनी शीष, आदर सहित मही तिन शीष ।।
पूरब थापे नेतु जु येह, गोयलगढ़ थानक तिन गेह।
ताते गोलापूरव नाम, भाषो श्री जिनवर अभिराम ।।[6]

इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि श्री भगवान आदिनाथ गोयलगढ़ (वर्तमान ग्वालियर) आये, यहाँ के निवासी वैश्यों को उपदेश दिया और पूर्व दिशा के लोगों ने जैन धर्म अंगीकार किया। इससे गोलापूरव जाति की उत्पत्ति हुई।

गोपाचल दुर्ग वीरता, वीतरागता, साहित्य, कला, स्थापत्य कला एवं आध्यात्मिकता का अनूठा संगम है। संगीत सम्राट तानसेन ने यहाँ शिक्षा प्राप्त की थी। गोपाचल भट्टारक पीठ रहा है, और यहाँ विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है। यह रइधू की साहित्य साधना की स्थली रहा है।

आज भी ऊँचा मस्तक ताने गढ़ के रूप में युगों-युगों की गाथा समेटे यह गोपाचल खड़ा है। इस किले के चारों ओर तथा किले के भीतर अगणित जैन मूर्तियाँ हैं। "सम्मत्तगुणणिहाण कव्व" में रइधू ने लिखा है— "उसने (राजा डूंगर सिंह ने) अगणित मूर्तियों का निर्माण कराया था। उन्हें ब्रह्मा भी गिनने में असमर्थ है।" यह मूर्तियाँ शान्ति और अहिंसा का सन्देश दे रही हैं। भगवान महावीर के निर्वाण काल को २५०० वर्ष से अधिक हो गये हैं, इस अन्तराल में भी इसमें अनेक घटनायें, अनेक राजवंशों का इतिहास व अनेक स्मृतियाँ गुंथी हुई हैं। स्वतंत्रता संग्राम में भी इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की समाधि एवं अमरचन्द्र बांठिया का बलिदान इसका प्रमाण हैं।

**सन्दर्भ :-**


१. बलभद्र : **भारतवर्ष के दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र**, भाग ३, पृ० ३४

२. **भट्टारक सम्प्रदाय**, लेखांश ४४१

३. **गोपाचलआख्यान**–सम्पादक हरिहरनाथ द्विवेदी, में खड्गराय गोपाचल आख्यान

४. **पासणाहचरिउ**, १-२-१६

५. **सुकोसलचरिउ**, १-४-५

६. **वर्धमानपुराण** (वि० सं० १८२५)


★

# 'अग्रवाल' शब्द की प्राचीनता

—श्री वेद प्रकाश गर्ग

वैश्य वर्णान्तिर्गत अग्रवाल जाति का विशेष स्थान है। इस जाति का विकास 'अग्रोहा' नामक स्थान से हुआ माना जाता है। यह स्थान हरियाणा राज्य में हिसार से १४ मील दूर, दिल्ली-सिरसा मार्ग पर स्थित है। इस समय यह एक छोटा-सा उजड़ा हुआ गाँव मात्र है, किन्तु प्राचीन-काल में यह अत्यन्त विशाल और समृद्ध नगर था। इसका प्रमाण पुरातात्त्विक महत्त्व के वे टीले हैं, जो इसके निकट लगभग ७०० एकड़ भूमि में फैले हुए हैं। इनकी खुदाई से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है, जिस से इस के प्राचीन गौरव तथा 'आग्रेयगणराज्य' की स्थिति का पता चलता है। अग्रोहा इस गण-राज्य का केन्द्र स्थान था।

आग्रेय गण राज्य अर्थात् अग्रोहा से निकास के कारण इन्हें 'अग्रवाल' शब्द से अभिहित किया जाता है। संस्कृत में अग्रवालों के लिए 'अग्रोतकान्वय' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और प्राकृत व अपभ्रंश में 'अयरवाल' शब्द से इनका उल्लेख हुआ है। 'अयरवाल' शब्द का प्राचीनतम उल्लेख श्रीधर कवि द्वारा सं० ११८६ (११३२ ई०) में दिल्ली में रचित **पासणाह चरिउ** में हुआ है।[1] उस समय दिल्ली में तोमर वंशी राजा अनंगपाल तृतीय का राज्य था। यह 'अयरवाल' शब्द अग्रवाल जाति का सूचक है। कुछ महानुभावों ने 'अयरवाल' एवं 'अग्रवाल' शब्द की एक-रूपता को शंकास्पद माना है। परन्तु यह शंका निराधार है।[2]

अग्र-जनपद अर्थात् अग्रोहा निवासी (क्योंकि वही अग्रवाल जाति का मूल निकास-स्थल था), तदनुसार 'अग्रवाल' शब्द में दो शब्द जुड़े हुए हैं— संस्कृत शब्द 'अग्र' और हिन्दी प्रत्यय 'वाल'। इसमें 'अग्र' शब्द अग्रोहा का द्योतक है और 'वाल' शब्द उसके पूर्व निवास का सूचक है। जिस प्रकार 'खंडेला' से खंडेलवाल, 'ओसिया' से ओसवाल, 'पाली' से पल्लीवाल या पालीवाल कहलाये, उसी प्रकार अग्रोहा से निकास होने से 'अग्रवाल' कहलाये। अग्रवाल बोलने में मुख-सुख से 'अगरवाल' हो जाता है। 'अयरवाल' शब्द को छोड़कर मात्र 'अग्रवाल' शब्द का प्रचीन उल्लेख डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार मौलाना दाऊद कृत अवधी-काव्य **चन्दायन** (रचना-काल सं० १४३६ वि०, सन् १३७६ ई०) में हुआ है—

बाँमन खतरी बसँह गुवारा ।
गहरवार औ अग्गर वारा ।।

(देखें, **अग्रवाल जाति का विकास**)। यह 'अग्गरवारा' अग्रवाल का ही द्योतक है, जो छन्द-प्रयोग की दृष्टि से ऐसा करके लिखा गया है, किन्तु इससे पूर्व भी अग्रवाल शब्द का उल्लेख सं० १४११ (सन् १३५४ ई०) में सधारु कवि द्वारा रचित **प्रद्युम्नचरित्र** में मिलता है। उक्त रचना में कवि ने अपना परिचय देते हुए बतलाया है कि "मेरी जाति अग्रवाल है, जिसकी उत्पत्ति अगरोवे नगर से हुई। मेरी माता का नाम गुणवइ (गुणवति) और पिता का नाम शाहमहाराज है। एयरछ नगर में बसते हुए मैंने इस चरित्र को सुनकर पुराण की रचना की।"[3]—

मइ स्वामी कउ कियउ बषाणु। तुहिम्हि पजुन्न पायउ निरवाणु।
अगरवाल की मेरी जाति। पुर अगरोवइ तहि उतपाति।।
सुधनुज जणणि गुणवइ उरि धरिउ। साहमहाराज घरहं अवतरिउ।
एयरछ नगवर संत नगर वसंते जाणि। सुणिव चरितु मइं रचिउपुराणु।।

इस परिचय में 'अग्रवाल' शब्द का उल्लेख अभी तक की जानकारी के अनुसार सबसे प्राचीन है और अग्रोहा से ही इस जाति की उत्पत्ति की धारणा पुष्ट होती है, जो वास्तविक है।

सं० १४११ से प्राचीन 'अग्रवाल' शब्दोल्लेख की खोज की जानी अब आवश्यक थी। मैंने जब इस ओर ध्यान दिया तो अचानक ही मुझे इसमें सफलता हाथ लगी। उक्त संवत् (१४११) से पूर्व का 'अग्रवाल' शब्द का प्राचीन उल्लेख मुझे एक जैन प्रतिमा-लेख में मिला, जो सं० १२३४ (सन् ११७७ ई०) का है, जिसका परिचय यहाँ दिया जा रहा हे। प्रतिमा-लेख इस प्रकार है—

"सं० १२३४ वर्षे मास कातिक सुदी १ गुरुवासरे भट्टारक आम्नाय सा० बुध मल अग्रवाल गर्ग गोत्री प्रतिष्टाणाम् मंगलाणं विमलं अष्टसिद्धि नव निधि दायक बिंबस्थापनं। गुरु आचार्ज कात्र।"

यह लेख मैनपुरी (कटरा) के दिगम्बर जैन मन्दिर में विराजमान भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति का है, जो सं० १४११ से १७७ वर्ष पहले का है। अब इससे पूर्व के 'अग्रवाल' शब्दोल्लेख की खोज की जानी चाहिए। अधिकाधिक प्रतिमा-लेख

(शेष पृष्ठ ६५ पर)

# अग्रवाल जाति का उद्भव

—डा० शशि कान्त

## अर्थ व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था का प्रयोजन मूलतः अर्थ व्यवस्था को सुनियोजित करना है। अर्थ या पूंजी व्यवस्था के चार अंग क्रमशः अर्थोत्पादन के बौद्धिक उपाय, अर्थ-संरक्षण, अर्थ-प्रबन्धन और अर्थोत्पादन हैं। तदनुसार अर्थ व्यवस्था को सुनियोजित करने के लिए चार प्रकार के लोगों की आवश्यकता होती है—

(१) बुद्धिजीवि वर्ग, विभिन्न विद्याओं के समुचित ज्ञान द्वारा अर्थोपार्जन के कौशल को प्राप्त करने में सहायता करता है। इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी बुद्धिजीवी आ जाते हैं जो किसी भी विद्या में दक्ष हैं और अपनी उस दक्षता से विभिन्न व्यवसायों को आगे बढ़ाते हैं, यथा- शिक्षक, विधि वेत्ता, अर्थशास्त्री, अभियन्ता, वैज्ञानिक, चिकित्सक तथा सभी प्रकार के शोधकर्ता। आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर मनीषी भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि वे अर्थाश्रित सामाजिक व्यवस्था के नियमन हेतु दार्शनिक अथवा धार्मिक आधार प्रस्तुत करते हैं।

(२) अर्थ (पूंजी, सम्पत्ति) का संरक्षण करने के लिए शासन-तंत्र और सैन्य-तंत्र की आवश्यकता होती है। इन तन्त्रों का विन्यास करने वाले वर्ग के

---

(पृष्ठ ६४ का शेष)

संग्रहों तथा प्रशस्ति-लेख-संग्रहों को टटोलने की आवश्यकता है, जिससे अग्रवाल शब्द की और भी प्रचीनता सामने आ सके। आशा है, अग्रवाल-समाज इस ओर ध्यान देगा।

**सन्दर्भ :–**


१. देखें, **जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह**, द्वितीय भाग, पृ. ४५-४८ तथा प्रस्ता., ८४-८५

२. देखें, **मंगल-मिलन**, वर्ष ८, अंक १२ (मार्च १९८१), पृ० १० पर लेखक का "अयरवाल और अग्रवाल शब्द की एक रूपता" शीर्षक लेख।

३. देखें, **हिन्दी-अनुशीलन**, वर्ष ९, अंक १-४, पृ० १६१। यह चरित दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी (जयपुर) से प्रकाशित हो चुका है।

४. देखें, **प्रतिमा लेख संग्रह**, (जैन सिद्धान्त भवन, आरा), पृ० १२ व २९ ★

अन्तर्गत सभी प्रकार के प्रशासनिक एवं सैनिक अधिकारी और कर्मी आते हैं। इसके नियोजन हेतु राज्य सत्ता की परिकल्पना की गयी जिसका प्रकार जन समुदाय की बौद्धिक चेतना और सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप राजतन्त्रात्मक, कुलतन्त्रात्मक, एकतन्त्रात्मक अथवा लोकतन्त्रात्मक हो सकता है।

(३) अर्थ-तन्त्र का व्यवस्थित सुनियोजन अर्थ-विनिमय में दक्ष आर्थिक प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है। इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी व्यवसायी, उद्योग-पति, भूमिपति, गृहपति और अर्थ-प्रबन्धक आते हैं जो अर्थ के विनिमय को नियोजित करते हैं और पूंजी एवं आर्थिक संसाधनों में अभिवृद्धि को सम्पादित करते हैं।

(४) जनसंख्या का बहुल वर्ग अर्थोत्पादन में अपना श्रम प्रदान करता है और इसके अन्तर्गत सभी छोटे कर्मी और श्रमिक चाहे वे उद्योग में हों या कृषि में अथवा व्यवसाय में, समाहित होते हैं।

**वर्ण व्यवस्था**

हमारे देश में ईसा पूर्व एक हजार वर्ष के लगभग अर्थ व्यवस्था के उपर्युक्त चार अङ्गों को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के नाम से सूचित किया जाने लगा। निहित स्वार्थों द्वारा इस व्यवस्था को जन्मतः निर्धारित करने की चेष्टा स्मृतिकारों के माध्यम से की गयी। इन स्मृतिकारों में मनु सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए।

जन्ममत वर्ण-व्यवस्था के विरोध में ईसा पूर्व छठी शती में महावीर और बुद्ध ने आन्दोलन किया जिसका प्रभाव यह हुआ कि नन्द और मौर्य जैसे साम्राज्य उदय में आये जिनके संस्थापक और कर्णधार परम्परागत क्षत्रिय नहीं थे। पुनः, यवन, पारसीक, शक और हूणों द्वारा सत्ता में आने पर मनु की व्यवस्था बिल्कुल चरमरा गयी और उन सभी राजनीतिक सत्ताधारियों को राजपूत या क्षत्रिय मान लिया गया।

वर्तमान परिस्थितियों में जो हमारे समाज का रूप है उसमें भी मनु की व्यवस्था को स्थान नहीं है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था का निषेध करते हुए उपर्युक्त चारों वर्णों में सभी परम्परागत जातियों और वर्णों के व्यक्तियों ने स्थान ग्रहण कर लिया है।

## श्रेष्ठि-श्रेणी

ईसा पूर्व एक हजार वर्ष से इस बात के उल्लेख साहित्य में और अभिलेखों में मिलते हैं कि प्राचीन और मध्य युगों में भारत में अर्थ-प्रबन्धन का दायित्व श्रेष्ठि-श्रेणियों का था। ये श्रेष्ठि-श्रेणियां समाज व्यवस्था का और प्रशासनिक तन्त्र का एक अभिन्न एवं महत्वपूर्ण अङ्ग थीं, और इसीलिये नगर सेठ का विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान था। इन श्रेणियों का प्रकार कुछ इसी प्रकार का था जैसा कि आज ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों तथा बैंकों का होता है। प्राय: उन्हें अपनी मुद्रा चलाने का भी अधिकार था।

## परिकल्पना

अग्रवाल जाति के उद्भव के सम्बन्ध में जो विभिन्न परिकल्पनायें विगत सौ डेढ़-सौ वर्षों में की गयी हैं और जिनको १८५४ ई० में रचित **महालक्ष्मीव्रत कथा** तथा उसी समय के लगभग रचित **उरुचरितम्** के आधार से परिपुष्ट करने का प्रयास किया जाता है[1], वे हमें किसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर नहीं ले जातीं। इस जाति के पूर्व-पुरुष के रूप में "महाराजा अग्रसेन" की अवधारणा वस्तुत: एक मिथक है।[2] अग्रवालों में "राजा" शब्द के प्रति व्यामोह ब्रिटिश शासन काल की देन है जब ब्रिटिश सरकार ने कुछ अग्रवालों को ब्रिटिश शासन के हितों के समर्थन में किये गये उनके कृत्यों के लिए "राजा" की उपाधि प्रदान की। प्रारम्भ में अंग्रेज भी वैश्य अग्रणियों को जगत्सेठ के नाम से ही अभिहित करते थे।

## विचारणीय प्रतिपत्ति

यह विचारणीय है कि क्या अग्रवाल जाति का उद्गम अग्रोहा या अग्रोतक या आगरा से सम्बन्धित उस श्रेष्ठि-श्रेणी से है जिसके अठारह हिस्सेदार थे। साढ़े-सत्रह गोत्रों की कल्पना का आधार यह हो सकता है कि सत्रह पूरे हिस्सेदार थे और एक हिस्सेदार आधा-हिस्सेदार था। श्रेणी की व्यापारिक उन्नति एवं अर्थ-तंत्र को सुरक्षित रखने के लिए यह व्यवस्था की गयी कि उनमें आपस में विवाह द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध सुदृढ़ हों। यह आज भी औद्योगिक-व्यवसायिक-पूंजीपति घरानों में होता है जहां पूंजी को बढ़ाने और सुरक्षित रखने की दृष्टि से दो उद्योगपति या पूंजीपति परस्पर विवाह-सम्बन्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि

अग्रवालों के विभिन्न गोत्रों में रंग और नाक-नक्श एक से नहीं होते । उदारहण के लिए आम तौर से सिंघल बहुत गोरे होते है, गोयल गोरे होते हैं, गर्ग और बंसल सांवले होते हैं तथा मित्तल कृष्ण वर्ण होते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में अग्रवाल जाति के बुद्धिजीवियों के लिए यह एक चिन्तनीय विषय है कि वे इस जाति के पूर्व पुरुष के रूप में किसी "महाराजा अग्रसेन" के व्योमाह को छोड़कर वस्तुनिष्ठ रूप से अग्रवाल जाति के उद्भव पर विचार करें और यह गवेषणा करें कि वह श्रेष्ठि-श्रेणी जिससे अग्रवाल जाति का उद्भव हुआ मूलतः कहां की थी तथा उसका स्वरूप क्या था, अग्रोहा अथवा आगरा में से कौन स्थान इस श्रेणी का मुख्यालय था, और यदि इस जाति की परम्परा लोहाचार्य (अर्थात् प्रथम शती ई०) तक जाती है तो उक्त नगरों में से कौन नगर ईस्वी सन् के लगभग व्यापारिक केन्द्र के रूप में अवस्थिति में था ।

यह उल्लेखनीय है कि अग्रवाल शब्द का कोई अभिलेखीय अथवा साहित्यिक उल्लेख १२वीं शती ई० से पहले का सम्प्रति नहीं मिला है ।[3] अब तक उपलब्ध प्राचीनतम उल्लेख वि० सं० ११८९ अथवा ई० सन् ११३२ का सूचित किया गया है ।[4] यह भी ध्यातव्य है कि अग्रवाल, अगरवाल या अग्गरवाल[5] शब्द भाषा की दृष्टि से १२वीं शती ई० के पहले का नहीं प्रतीत होता । "वाल" का अर्थ है "वाला" और यह हिन्दी का देशज शब्द है– संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश का नहीं, ना ही उन भाषाओं का कोई तत्सम या तद्भव शब्द । गोत्रों का उल्लेख सर्व प्रथम ११७७ ई० का है ।[6] लोहाचार्य सम्बन्धी अनुश्रुति का ग्रथन १५वीं शताब्दी का है जो संभवतः उस समय में जैन धर्मानुयायी अग्रवालों को योगिनीपुर (दिल्ली) के भट्टारक पट्टाधीशों (जो स्वयं अग्रवालजातीय थे) द्वारा एक सूत्र में बांधने के उद्देश्य से किया गया था ।[7]

**सन्दर्भ :–**

१. इनके लेखक का नाम अज्ञात है । श्री महालक्ष्मी व्रत की कथा **भविष्यपुराण** में भी सम्मिलित कर ली गई ।

२. मात्र २१ वर्ष की आयु में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने छोटे आकार की २० पृष्ठीय पुस्तक **अगरवालों की उत्पत्ति** में वैशाख शुद्ध ५ सं० १९२८

(१८७१ ई०) को इस मिथक का प्रसार प्रारंभ किया। विस्मय की बात है कि बाद को इस शती के प्रौढ़ और साहित्य-इतिहास-पुरातत्त्व के मनीषी अग्रवाल विद्वानों ने इस मिथक का समीक्षात्मक अध्ययन नहीं किया वरन् उसी मिथक को प्रवाहमान करने में प्रवृत्त रहे।

३. अग्रवालों का थोक दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के क्षेत्र में केन्द्रित रहा है, अतः हरियाणा के हिसार जिले का अग्रोहा या पश्चिमी उत्तर प्रदेश का आगरा नगर ही उद्गम स्थान के रूप में सूचित होता है। 'अग्रोतक' उक्त नगर के नाम का संस्कृतनिष्ठ रूप है।

मध्य प्रदेश के शाजापुर जिले का अगर, जो 'आकर' (पूर्वी मालवा) का अपभ्रंश प्रतीत होता है, उक्त क्षेत्र से बहुत दूर है। यही स्थिति पाकिस्तान में अवस्थित सिन्धु तटीय अग्गलसेई प्रान्तर की है।

४. श्रीधर कृत **पासणाहचरिउ**। यह अपभ्रंश भाषा में है और इसकी रचना योगिनीपुर (दिल्ली) में हुई। इसमें 'अयरवाल' शब्द का प्रयोग हुआ है।

५. अन्य शब्दान्तर हैं— अयरवाल, अग्गरवार, अग्रोतकान्वयी।

६. श्री वेद प्रकाश गर्ग द्वारा गत पृ० ६४ पर सूचित सं०१२३४/११७७ ई० के प्रतिमा लेख में **गर्ग** गोत्र का उल्लेख है। **गोहिल** गोत्र के १३५६ ई० के उल्लेख की सूचना श्री अजित प्रसाद जैन ने **शोधादर्श**–११ के पृ० २६ पर दी है।

७. **शोधादर्श**–११ के पृ० २०-२७ पर अपने लेख 'अग्रवाल जाति और जैनधर्म' में श्री अजित प्रसाद जैन ने परम्परागत स्थिति का विवेचन किया है, जो भी दृष्टव्य है।

—

# जैन दर्शन के तीन अकार : अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह

—डा० हुकुम चन्द्र भारिल्ल

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह – ये तीन अकार जैन दर्शन के आधार स्तम्भ हैं। अनेकान्त में स्याद्वाद भी आ जाता है। यदि स्याद्वाद को अलग से परिमणित करें तो अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह – ये चार स्तम्भ हो जाते हैं। इन चारों स्तम्भों पर जैन दर्शन का भव्य भवन खड़ा हुआ है।

जैन दर्शन का मूल आधार तो एक अहिंसा ही है क्योंकि अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह भी एक प्रकार से अहिंसा के ही रूपान्तर हैं। अहिंसा की ही दिव्य-ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त, वचन-व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद तथा आत्मशांति एवं सामाजिक क्षेत्र में अल्प-परिग्रह या अपरिग्रह के रूप में प्रकट होती है।

अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह या अल्प-परिग्रह की आवश्यकता आज की दुनिया को सर्वाधिक हैं क्योंकि हिंसा, विग्रह और परिग्रह-संग्रह की वृत्ति ने आज कल्पनातीत भयानक रूप धारण कर लिया है। आज हमने इतनी विनाशक सामग्री तैयार कर ली है कि उसके सहस्रांश के प्रयोग से ही यह सारी दुनिया कुछ क्षणों में ही समाप्त हो सकती है। परिग्रह संग्रह की वृत्ति भी इतनी बलवती होती जा रही है कि सभी व्यापारी बन गये हैं, सरकारें भी व्यापार में संलग्न हैं और सभी देश सम्पूर्ण दुनिया के बाजारों पर अधिकार कर लेना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही दृष्टि से देखता है, अपनी बात को ही जगत पर लादना चाहता है।

जब तक लोक में हिंसा का आतंक समाप्त नहीं होता, दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की सहिष्णुता पैदा नहीं होती और सम्पूर्ण विश्व के बाजारों पर अधिकार करने की वृत्ति का शमन नहीं होता, तब तक विश्व-शांति संभव नहीं है, आत्म-शांति भी संभव नहीं है। आज की दुनिया इस बात को गहराई से समझने लगी है, अनुभव करने लगी है। यही कारण है कि अब बड़े देशों के बीच, महाशक्तियों के बीच, निःशस्त्रीकरण की वार्तायें होने लगी हैं। अब हथियार बनाने की नहीं, हथियार समाप्त करने की योजनाएं बनने लगी हैं, दूसरों के

दृष्टिकोण को समझने के प्रयास होने लगे हैं, और सम्पत्ति के समान वितरण की बात भी विचार का विषय बनने लगी है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तरंग पक्ष को लक्ष्य में रखते हुए **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** में हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।। ४४

अर्थात्, आत्मा में राग-द्वेष मोहादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है और इन भावों का आत्मा में उत्पन्न न होना अहिंसा है। यही जिनागम का सार है।

गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा और अहिंसा को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने आहिंसा का वर्गीकरण चार रूपों में किया है–संकल्पी हिंसा, उद्योगी हिंसा, आरंभी हिंसा और विरोधी हिंसा। केवल निर्दय परिणाम के हेतु संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात, संकल्पी हिंसा है। व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी बरतते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी और आरंभी हिंसा है, और अपने परिवार, धर्मायतन, समाज, देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है, किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती हैं, यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है और वह उसे उपादेय नहीं मानता पर विधेय भी नहीं मानता। मुक्ति के मार्ग के पथिक गृहस्थों का व्यक्तित्व द्वैध होता है— उनकी श्रद्धा तो पूर्ण अहिंसक होती है परन्तु व्यवहार भूमिकानुसार।

मुनिराज चारों प्रकार की हिंसा के पूर्ण त्यागी होते हैं। यही कारण है कि वे कोई आरंभ नहीं करते, उद्योग नहीं करते और शत्रुओं द्वारा उपद्रव करने पर भी क्षमाभाव रखते हैं, बदला नहीं लेते, वैरभाव धारण नहीं करते।

जैन-आहार विधान का मूल आधार अहिंसा है। सर्व प्रथम तो हमें ऐसा ही आहार ग्रहण करना चाहिए जो पूर्णतः अहिंसक हो। यदि पूर्णतः अहिंसक आहार से जीवन संभव न हो या हमसे इसका पालन न हो तो ऐसे आहार से काम चलाना

चाहिए जिसमें कम से कम हिंसा हो। आहार के लिए सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के घात का तो सवाल ही नहीं उठता, सभी त्रस जीवों की हिंसा से भी पूरी तरह बचना अभीप्सित है और स्थावर जीवों के विनाश से भी यथासाध्य बचना आवश्यक है। स्थावर जीवों, विशेषकर वनस्पतिकायिक जीवों, के शरीर का ही आहार में उपयोग होता है। सर्व प्रथम गेहूं, चावल आदि अनाज और चना आदि दालों एवं तिलहन आदि के उपयोग का उपदेश दिया गया है। अनाज, तिलहन और दालें तभी उत्पन्न होती हैं जब उनका पौधा स्वयं अपनी आयु पूर्ण कर सूख जाता है। यदि हरे-भरे पौधों को काट दिया जाय तो अनाज भी सही रूप में पैदा नहीं होगा। अतः उसका खेत में खड़े-खड़े सूख जाना आवश्यक है। इसीलिए अनाज, दालें व तिलहन पूर्णतः अहिंसक आहार माने जाते हैं।

यद्यपि गेहूं आदि पूर्णतः अजीव हैं तथापि उनको बोने पर वे उगते हैं, पर चावल उनसे भी श्रेष्ठ है क्योंकि छिलका अलग हो जाने से वह बोने पर उगता भी नहीं है। यही कारण है कि उसका उपयोग भगवान की पूजन में भी किया जाता है। जीव-जन्तुओं से रहित, बिना घुना अनाज, चावल, दालें एवं तिलहन ही सर्वोत्तम शाकाहार है। इन्हीं में मेवा—सूखे फलों (ड्राई फ्रूट्स) को समझना चाहिए। इसके बाद वृक्ष की डाली पर ही पके हुए और पक कर स्वयं गिरे हुए फलों का क्रम आता है, क्योंकि उनके ग्रहण में भी किसी भी जीव-जन्तु को कोई पीड़ा नहीं पहुंचती है। इसके बाद साग-भाजी का नम्बर आता है, क्योंकि साग-भाजी तो निश्चित रूप से हरी ही होती है। उसे सचित्त अवस्था में ही पेड़-पौधों से तोड़ा जाता है। अप्रतिष्ठित वनस्पति होने से भले ही उनमें जीव न हो, पर उसके तोड़ने से उस पेड़ या पौधे को पीड़ा तो पहुंचती ही है। पेड़-पौधों की जड़, जिसे कन्दमूल कहते हैं, खाने का पूर्णतः निषेध है, क्योंकि जड़मूल के समाप्त हो जाने पर तो पेड़-पौधे का सर्वनाश अनिवार्य है। कन्दमूल साधारण वनस्पति होने से उसमें अनन्त जीव भी रहते हैं, इस कारण भी उनके खाने का निषेध है।

जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा एक समग्र जीवन दर्शन है। अतः न केवल खान-पान में ही अपितु जैनियों के सम्पूर्ण आचार-विचार में अहिंसा की झलक मिलती है और मिलनी चाहिए। जैन साधुओं का जीवन तो पूर्ण अहिंसक होता ही है, जैन गृहस्थ भी न तो बिना छना जल काम में लेते हैं और न ही रात्रि में भोजन करते हैं। चमड़े की उन वस्तुओं का उपयोग भी वे नहीं करते जो

हिंसक तरीकों से जिन्दा पशुओं को मारकर बनाई जाती हैं। कीड़ों को उबालकर बनाये गये रेशमी वस्त्रों एवं हिंसक तरीकों से बनाये गये प्रसाधनों का उपयोग भी वर्जित है।

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। अनेकान्त शब्द "अनेक" और "अन्त" दो शब्दों से मिलकर बना है। 'अनेक' का अर्थ होता है—एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ संभव हैं। 'अन्त' का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहां अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिए। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा अनन्त-गुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा– परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है। अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तु-स्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन कराने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व-शान्ति का भी प्रतिष्ठापक है।

आज की दुनिया में जहाँ एक ओर भोगोपभोग सामग्री के ढेर लगते जा रहे हैं, पहाड़ बनते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की भी उपलब्धि नहीं है। एक ओर लाखों क्विन्टल अनाज व दूध-दही दरिया में बहाया जा रहा है तो दूसरी ओर लाखों लोग भूख से मर रहे हैं, उन्हें पीने के लिए पानी तक उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में अपरिग्रह या आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह के सिद्धान्त की उपयोगिता स्पष्ट नजर आती है। इस जगत में जो भी जीवनोपयोगी सामग्री है, उसे मिल-बाँट कर उपयोग करने में ही सुख-शान्ति है, अन्यथा हिंसा का तांडव अनिवार्य है। यदि जगत को हिंसा के तांडव से बचाना है, महाविनाश से बचाना है, तो जैन दर्शन के अपरिग्रह, या आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह, के सिद्धान्त को अपनाना होगा। अतः वर्तमान संदर्भ में आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह के सिद्धान्त पर गंभीरता से विचार किया जाना लोक के हित में है।

जैन दर्शन ने सदा ही अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादमयी वाणी, अहिंसात्मक आचरण और अल्प-परिग्रही सादे जीवन पर जोर दिया है। जैन आचरण

(शेष पृष्ठ ७४ पर)

# साहित्य सत्कार

**समयसार अनुशीलन**— ले० डा० हुकुम चन्द्र भारिल्ल, प्रकाशक—पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–४ बापू नगर, जयपुर-३०२०१५, पृष्ठ १४६, मूल्य–रु० १०/-.

इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के आद्य ग्रन्थ भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य कृत **समयसार पाहुड़** की प्रथम २५ गाथाओं पर डा० हुकुमचन्द्र जैन भारिल्ल के **वीतराग विज्ञान** पत्रिका के सम्पादकीय लेखों का संकलन प्रस्तुत किया गया है। डा० भारिल्ल सिद्ध-हस्त लेखक हैं तथा **समयसार** के मर्मज्ञ विज्ञान हैं। उन्होंने बड़ी सरल भाषा में इन गाथाओं के मर्म को स्पष्ट किया है। **समयसार** के इस अनुशीलन में मूल गाथाओं के साथ-साथ अमृतचन्द्र की **आत्म ख्याति** संस्कृत टीका को मुख्य आधार बनाया गया है, आचार्य जयसेन की **तात्पर्य वृत्ति** संस्कृत टीका, पाण्डे राजमल जी की **कलश टीका**, पं० बनारसीदास जी के **नाटक समयसार**, पं० जयचन्द्र छाबड़ा की **भाषा वचनिका** तथा **समयसार** के इस युग के अनन्य मर्मज्ञ कानजी स्वामी के प्रवचनों का भी इसमें उपयोग किया गया है। मूल गाथाओं को उनके भाषा पद्यानुवाद सहित जानने के इच्छुक जिज्ञासुओं को ग्रन्थ का परिशीलन अवश्य करना चाहिए।

---

(पृष्ठ ७३ का शेष)

छूआछूत मूलक न होकर अहिंसा के आधार पर सुनिश्चित किया गया है। यद्यपि जैन दर्शन में हिंसादि पापों को रंचमात्र भी श्रेयस्कर नहीं माना गया है, तथापि उनके त्याग के लिए अनेक स्तरों का प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें जीवन में अपनाना प्रयोग सिद्ध है। जहां साधु का जीवन पूर्ण अहिंसक एवं अपरिग्रही होता है, वहीं श्रावकों के जीवन में आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह का ग्रहण होता है, तथा जहां गृहस्थ बिना प्रयोजन एक चींटी तक का वध नहीं करता, वहीं देश, समाज, घर-बार, मां-बहन, धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिए तलवार उठाने में भी वह संकोच नहीं करता। धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है और जीवन है धर्म की प्रयोगशाला। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह जैन दर्शन के ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोग किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।†

† ३ व ४ फरवरी, १९९४, को दिल्ली विश्वविद्यालय में राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला के अन्तर्गत दिये गये भाषण का सारांश। ★

**आत्मा ही है शरण**— लेखक एवं प्रकाशक उपरोक्त, पृष्ठ २२७, मूल्य रु. ११/-.

डा. हुकुम चन्द्र भारिल्ल विदेशों में जैन धर्म प्रचार का महती कार्य कर रहे हैं। वे कई वर्षों से जून-जुलाई के महीनों में धर्म प्रचारार्थ विदेशों में बिताते आ रहे हैं। सन् १९८४ से १९९१ तक दिये गये उनके व्याख्यानों के संकलन "विदेशों में जैनधर्म— एक अध्ययन", "विदेशों में जैनधर्म— प्रचार-प्रसार की संभावनाएं", "विदेशों में जैन धर्म— उभरते पद चिन्ह", "विदेशों में जैन धर्म— बढ़ते कदम", "विदेशों में जैन धर्म – अध्यात्म की जगती जिज्ञासा", "विदेशों में जैन धर्म-धर्म क्रम बद्ध पर्याय की" एवं "आत्मा ही है शरण" शीर्षकों से स्वतन्त्र पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हो चुके है। अब इन सभी पुस्तिकाओं का संशोधित संकलन प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है। शुद्ध मुद्रण व आकर्षक गैट-अप पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के प्रकाशनों की पहचान बन गई है। विदेशों में जैन धर्म प्रचार के जिज्ञासु पाठकों को पुस्तक रूचिकर सिद्ध होगी।

**बारस अणुवेक्ख**— सम्पादक – डा० एम० डी० वसन्तराज, प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट, १४१ रङ्गास्वामी टैम्पिल स्ट्रीट, बंगलौर–५६००५३, पृष्ठ ४२, मूल्य–रु० १२/-.

प्रस्तुत पुस्तक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य कृत **बारस अणुवेक्ख** की एक अज्ञात विद्वान द्वारा कन्नड भाषा में रची टीका है जिसे आधुनिक कन्नड में रूपान्तरित कर दिया गया है। इसे एक प्राचीन खंडित ताड़पत्रीय प्रति से तैयार किया गया है तथा जो गाथाएं उक्त प्रति में विलुप्त थीं, उनकी पूर्ति जीवराज ग्रन्थ माला, शोलापुर, के अन्तर्गत प्रकाशित **कुन्दकुन्द प्राभ्रत संग्रह** से कर दी गई हैं। पुस्तक में नागरी व कन्नड लिपि में मूल गाथा तथा कन्नड भाषा में अर्थ एवं कहीं-कहीं अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए टीका दी गई है। पुस्तक में हिन्दी व कन्नड दोनों भाषाओं में विद्वान सम्पादक द्वारा लिखित १४ पृष्ठ की भूमिका भी दी गई है। भूमिका में मुख्य रूप से मूल ग्रन्थकार भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। सम्पादक महोदय ने कुन्द-कुन्द स्वामी को ईसा की दूसरी शती में हुए नन्दि संघ के आचार्य कुन्दकुन्द-पद्मनन्दि से चिन्हित किया है जिन्होंने **षट्खण्डागम** की **परिकर्म टीका** रची थी। किन्तु अब अधिकांश विद्वान इन दोनों आचार्यों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। दिगम्बर आम्नाय के प्रमुख पक्षधर मंगल श्लोक में प्रातः स्मरणीय तथा प्राभ्रत-त्रय (**समयसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकाय**) के कर्ता भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य को

अब श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के प्रत्यक्षशिष्य तथा श्वेताम्बर आम्नाय के प्रथम आचार्य स्थूलभद्र के समकालीन ईसा पूर्व चौथी शती का आचार्य माना जाता है। आचार्य ने अपनी रचनाओं में एकाधिक बार स्पष्ट किया है कि जैसा श्रुतकेवली ने बताया है वही मैं कहता है। उन्होंने स्वयं अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का शिष्य घोषित किया है। एक स्थान पर उन्होंने भद्रबाहु स्वामी को अपना गमक गुरू भी सम्बोधित किया है जिसके अर्थ कुछ विद्वानों ने "परम्परागत गुरु" लगाए हैं, किन्तु जिसका अर्थ यह भी होता है कि "वे गुरु जिनसे मुझे ग्रन्थ निबद्ध करने की प्रेरणा मिली"।

**भयंकर दुखों की खान रात्रि-भोजन**— सम्पादक— मुनि श्री कमलरत्न विजय म०, प्रकाशक – भाविक कारपोरेशन, बम्बई-४००००२, पृष्ठ ३२, मूल्य-रु. ६/-.

इस लघु पुस्तिका में मुनि श्री कमल रत्न विजय जी ने रात्रि-भोजन निषेध के समर्थन में विभिन्न प्राचीन जैन-अजैन ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। साथ ही मद्य, मांस, मधु, पंच उदम्बर फल आदि अभक्ष्य पदार्थों के खाने के दोष पर प्रकाश डाला है। पुस्तिका उपयोगी है।

**—अजित प्रसाद जैन**

**मेरी इटली यात्रा की कहानी**— ले० श्री हजारीमल बांठिया, प्रकाशक—पञ्चाल शोध संस्थान, ५२/१६, शक्कर पट्टी, कानपुर-२०८००१, १९९३, पृ० ३६ + ८ चित्र, मूल्य रु० १०/-.

इस पुस्तिका में श्री बांठिया ने एक विस्मृत प्राच्यविद् जिन्होंने जैन धर्म के अध्ययन में भी रुचि दिखाई थी, का परिचय विवरण दिया है। लुइजी पियो तैस्सितोरी का जन्म इटली के उदीने नगर में १३ दिसम्बर, १८८७, को हुआ था। १९१२ में उन्होंने तुलसी कृत **रामचरितमानस** और वाल्मीकि कृत **रामायण** के तुलनात्मक अध्ययन पर शोध निबन्ध प्रस्तुत कर फ्लोरेंस विश्वविद्यालय से संस्कृत में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात उनका कार्यक्षेत्र भारत में राजपूताना रहा और मात्र ३२ वर्ष की अल्प वय में उनका स्वर्गवास २२ नवम्बर १९१९ को बीकानेर में प्ल्यूरिसी रोग से ग्रसित होने के कारण हो गया। इस विस्मृत प्राच्यविद् को १९५० से अपने अथक प्रयासों से श्री अगरचन्द नाहटा और श्री हजारीमल बांठिया ने वास्तव में कब्र से ही खोद निकाला। अपने सपूत की याद में इटली के प्राच्यविदों ने तैस्सितोरी का जन्म शताब्दी समारोह

१६८७ में मनाया और इसमें श्री बाँठिया ने भाग लिया। इनकी इटली की यात्रा का विवरण और डा. तैस्सितोरी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर उनका भाषण इस पुस्तिका में संग्रहीत है। भाषा-शास्त्रियों और प्राच्यविदों के लिए यह एक उपयोगी पुस्तिका है और श्री बांठिया इसके लिए साधुवाद के पात्र हैं।

**निर्देशिका जैन समाज छिन्दवाड़ा** और **जैन युवा परिचय छिन्दवाड़ा**,—प्रकाशन, संकलन व सम्पादन— जैन मित्र मंडल, छिन्दवाड़ा, १६६३.

इन निर्देशिकाओं में छिन्दवाड़ा की जैन समाज और संस्थाओं के विषय में उपयोगी सामग्री संकलित है। इसके लिए जैन मित्र मंडल के पदाधिकारी और उत्साही सदस्य साधुवाद के पात्र हैं।

**रामजन्मभूमि बनाम राजजन्मभूमि**— ले० व प्र० श्री शरदकुमार साधक, सहकारी सदनावलि, आकाशवाणी के सामने, महमूरगंज, वाराणसी-२२१०१०, पृष्ठ-१६.

अयोध्या में रामजन्मभुमि-बाबरी मस्जिद विवाद पर लेखक द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से अपने विचार व्यक्त किये गये हैं। यह ६-१२-१६६२ से पहले का आलेख है और उस समय तक विद्यमान पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर विवादग्रस्त इमारत के मूल एवं स्वरूप पर विचार किया जा सकता था जो अब साक्ष्य-विध्वंस के कारण दुस्तर हो गया है। लेखक द्वारा प्रस्तुत यह विवेचन समीचीन है कि विदेशी इतिहास लेखक समसमायिक काल में बहुत आगे नहीं देख पाते, और दंत-कथाओं, पौराणिक आख्यानों, श्रुति-स्मृतियों व कीर्ति काव्यों में भावातिरेक है जिससे यथार्थ दबता है, अतः पुरातत्त्व की पगडंडी के सहारे समाज-वैज्ञानिक की भाँति इस विवाद का निदान किया जाना अभीष्ट है। लेखक अपने युक्ति-युक्त विवेचन और निर्भीक विचार प्रस्तुत करने के लिए बधाई के पात्र हैं।

**प्रजा-पर्यावरण-संदेश**, **युग पुरुष आचार्य श्री विद्यासागर**, तथा **नीतिशतक** —रचयिता/लिखक – प्रो० शीलचन्द्र जैन, हिन्दी विभाग, डेनियलसन कालेज, छिंदवाड़ा-४८०००२.

**प्रज्ञा-पर्यावरण-संदेश** मे १५ + १५० दोहे हैं, और **नीतिशतक** में ६ + १८० दोहे हैं। अपने चिन्तन के दोहन से प्रो० शीलचन्द्र जी ने भारतीय एवं विशेषकर जैन संस्कारों की पृष्ठभूमि में जो पद्यबद्ध विचार दिये हैं, वे मनन करने के योग्य है। आज सभी कुछ को आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्यिों के सन्दर्भ से

देखा जाना अपेक्षित है। यज्ञ-हवन से पर्यावरण शुद्ध नहीं होता वरन् प्रदूषित होता है। महामस्तकाभिषेक एवं गजरथ-सिंहरथ आदि आयोजनों में धन के अपव्यय के साथ ही, आवश्यक खाद्य सामग्री को जान-बूझकर नष्ट किया जाता है। जितना दूध और फलों का रस धर्म की प्रभावना के नाम पर पिछले ३-४ माह में मिट्टी में बहा दिया गया, इससे उन स्थानों के अस्पतालों के अभावग्रस्त रोगियों को कई माह पथ्य मिल सकता था – परन्तु वह धर्मगुरुओं की वैराग्य-भावना में बाधक होता। **आचार्य श्री विद्यासागर** जी पर प्रो० शीलचन्द्र जी की पुस्तिका रोचक है, परन्तु क्या जो कुछ आचार्य जी की कविता में भाव हैं उसका उनकी अपनी अनुभूति से भी कोई तादात्म्य है, यह भी चिन्तनीय है। आशा है, लेखक महोदय भक्ति से ज्ञान की ओर अग्रसर होते हुए अपनी रचनाओं में उक्त संवीक्षाओं पर भी विचार करना चाहेंगे। अपनी स्वान्तः सुखाय सृजन अभिरुचि के लिए वह साधुवाद के पात्र हैं।

**पत्र पत्रिकायें—**

**जैन विद्या** (अमितगति विशेषांक)—प्र० जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी, अप्रैल १९९३.

११वीं शती के आचार्य अमितगति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर ११ लेखों में प्रकाश डाला गया है जो पठनीय है।

**णाणसायर** (गोम्मटेश्वर अंक)—प्र० अरिहन्त इन्टरनेशनल, २३९, गली कुंजस, दरीबा, दिल्ली-११०००६.

बाहुबलि के पौराणिक आख्यानों और उनकी मूर्तियों के सम्बन्ध में काफी शोधपरक सामग्री का संकलन किया गया है। स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन का लेख 'सतत वन्दनीय', स्व. डा. आ. ने० उपाध्ये का लेख 'गोम्मट : शब्द कथा' और स्व० टी० एन० रामचन्द्रन का लेख 'बाहुबलि और दक्षिण की परम्परा' विशेष रूप से पठनीय हैं। डा. रतन चन्द्र जैन की 'कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया : एक समीक्षा' चिन्तनीय है। डा० के. आर. चन्द्रा ने 'मूल भाषा में घुसपैठ' में एक विचारणीय मुद्दा उपस्थित किया है कि आगम की भाषा में पाठ-शुद्धि किस सीमा तक हो।

**प्राकृतविद्या**, जुलाई-दिसम्बर १९९३, प्र. श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन), १८ बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-११००६७, और

**अनेकान्त**, अक्टूबर ९३–मार्च ९४, प्र० वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२·

दोनों ही पत्रिकाओं का विवाद का मुद्दा प **बलभद्र जैन** द्वारा सम्पादित **समयसार** है। पं. बलभद्र और पं. पद्मचन्द्र शास्त्री दोनों ही जिनवाणी के तपे हुए अध्येता हैं और मूलतः एक ही स्रोत से पोषित-पल्लवित हैं। दोनों ही इस तथ्य से परिचित हैं कि किसी भी ग्रन्थ के मूलपाठ का क्या महत्व होता है और पाठान्तर देने की क्या विधा होती है तथा सम्पादन की शैली क्या है। फिर भी दोनों हठधर्मिता पर अड़े हैं और अपने-अपने पक्ष साधन के लिए अखाड़े में डटे हैं। यह द्वन्द युद्ध अब समाप्त होना चाहिए। जहां तक हम समझे हैं, पं. पद्मचन्द्र की आपत्ति यह है कि विवादित संस्करण में आचार्य कुन्दकुन्द की मूल भाषा को परवर्ती प्राकृत व्याकरणों के आश्रय से शुद्ध किया गया है और इस प्रकार मूल में हस्तक्षेप किया गया है। पं. बलभद्र की स्थापना है कि उन्होंने एक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि के आधार पर अपना पाठ दिया है और अभी तक जितने संस्करण प्रकाशित हैं सभी में कुछ-न-कुछ पाठान्तर है, अतः उन्हीं के पाठ पर इतनी उत्तेजना क्यों है। इस सब में आग में घी का काम आचार्य विद्यानन्द का एकान्त पक्ष-साधन है जो अनागार धर्म की भाषा समिति और वाग्गुप्ति का आधुनिक संस्करण माना जा सकता है जिसका निर्देश हम **शोधादर्श**-२० में 'अथ समयसार शुद्धि प्रकरण' के अन्तर्गत कर चुके हैं।

विवाद का समाधान विद्वानोचित तरीके से अभी भी संभव है। **समयसार** के सभी प्रकाशित संस्करणों को सूचीबद्ध किया जाय और उनकी आधार ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों को निर्दिष्ट एवं सूचीबद्ध करते हुए समय व प्राप्ति स्थान की दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता का विवेचन किया जाय। विवादित संस्करण में जो आधारभूत पाण्डुलिपि है उसकी प्रामाणिकता का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया जाय कि उसे अन्य प्रतियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक मानने का क्या औचित्य है। पाठ यही रखते हुए पाठान्तर पाद-टिप्पणी में पाण्डुलिपि की क्रम संख्या का कोष्ठक में निर्देश देते हुए दिया जाय और यह टिप्पणी भी दी जाये कि क्या पाठान्तर से अर्थान्तर भी होता है। यदि कहीं खण्डित या विलुप्त अंश को पुनर्स्थापित किया गया है तो उसे रेखांकित कर स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया जाय और इस प्रकार पुनर्स्थापन का आधार भी दिया जाय।

उपर्युक्त प्रकार से सम्पादित संस्करण के बाद विवाद का मुद्दा स्वतः समाप्त हो जायेगा, और यदि किसी विद्वान या धर्माचार्य को कोई मतभेद तब भी

होगा तो वह एक स्वतन्त्र शोध-खोज की बात होगी, सम्पादन या सम्पादक से उसका कोई सरोकार नहीं होगा।

वीर सेवा मन्दिर और श्री कुन्दकुन्द भारती के प्रबन्धकों, प्राकृत के विद्वानों, शास्त्र के ज्ञाताओं और आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके **समयसार** के अनुरागियों को इसमें अपना यथोचित योगदान देना अभीष्ट है। यह भी अभीष्ट है कि आचार्य श्री लोग इस विवाद से अपने को वीतराग कर लें और विद्वानों द्वारा ही समाधान होने दें।

**धर्ममंगल**— १६ फरवरी १९९४, प्र. व सं. प्रा. सौ. लीलावती जैन, ४/५ भीकमचंद जैन नगर, पिंपराले रोड, जलगांव.

सम्पादिका ने अपने सम्पादकीय में महामस्तकाभिषेक महोत्सव की निरर्थकता पर अपनी वेदना व्यक्त की है, जो चिन्तनीय है।

**तीर्थंकर**— दिसम्बर ९३–फरवरी ९४, प्र. हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कालोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर–४५२००१.

सम्पादक डा. नेमिचंद जैन ने अपने सम्पादकीय में शाकाहार प्रशिक्षण शिविर में यह प्रस्ताव पारित न किये जाने पर व्यथा व्यक्त की है कि कलश करने वालों द्वारा यह संकल्प किया जाये कि वे आजीवन मांसाहार नहीं करेंगे और व्यसनों से दूर रहेंगे। **शोधादर्श-२१** में 'महामस्तकाभिषेक विमर्श' के अन्तर्गत हम प्रकाश डाल चुके हैं कि इस आयोजन का सामाजिक उत्थान या सदाचरण से कितना वास्ता है। **शोधादर्श-८** में 'बाहुबलि की पूजनीयता' पर भी हम चिन्तन आकर्षित कर चुके हैं।

श्रवणबेलगोला में गोम्मटेश्वर की मूर्ति एक अद्वितीय कलाकृति है और संसार के आश्चर्यों में से एक है, परन्तु क्या इसी कारण यह पूजनीय भी है, यह विचारणीय है—और इसको माध्यम बनाकर जो समय-समय पर आडम्बर किया जता है क्या वह सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित है, यह और भी अधिक विचारणीय है। मिश्र में स्फिक्स भी अद्वितीय कलाकृति हैं, उन्हें भी कोई कर्मयोगी पूजनीय बनाकर धर्म प्रभावक का यश अर्जित करेगा तथा कोटिशः धन भी संग्रहीत करेगा, यह देखने की ललक शेष है।

**उत्तर प्रदेश**— जनवरी १९९४, प्र. सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, पार्क रोड, लखनऊ-२२६००१.

श्री रमा कान्त जैन का लेख 'एक अनुपम कलाकृति गोम्मटेश्वर बाहुबलि' पठनीय है।

**विमर्श**:— अंक २, १९९४, प्र० शोध विमर्श गोष्ठी, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय.

इसमें विभाग की सात अनुसन्धात्रियों के उनके शोध से सम्बन्धित विषयों पर शोध पत्र प्रकाशित हैं। कु० अनीता सोनकर प्राकृत मुक्तक काव्य **गाहासतसई** पर शोध कर रही हैं। विभाग का यह प्रयास अनुसन्धाताओं को शोध कार्य में प्रोत्साहन देने के लिए है, और स्वागतार्ह है।

**दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका**— सं० श्री पारस दास जैन, प्र० दिगम्बर जैन महासमिति, श्री खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर कम्पाउन्ड, शिवाजी स्टेडियम के पीछे, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-११०००१.

**महासमिति पत्रिका** के १६-३० सितम्बर १९९३ के अंक में **शोधादर्श** के प्रबन्ध सम्पादक श्री अजित प्रसाद जैन का लेख 'श्री सेठी उवाच' प्रकाशित हुआ था। इसके बाद १-१५ नवम्बर १९९३ के अंक में सम्पादक जी ने इस लेख को छापने के लिए खेद प्रकाश किया और श्री निर्मल जैन, सतना, का 'आलोचना या अवर्णवाद' इसी अंक में तथा पुन: १६-३० नवम्बर १९९३ के अंक में प्रकाशित किया। श्री निर्मल जैन का समाधान इसी अंक में प्रकाशित 'आगम और अवर्ण-वाद – एक चिन्तन' से हो जायेगा। परन्तु खेद की बात यह है कि श्री अजित प्रसाद जैन का स्पष्टीकरण छापने का साहस सम्पादक महोदय अभी तक नहीं जुटा पाये हैं। अत: **महासमिति पत्रिका** के सम्पादक के स्पष्टीकरण को और श्री अजित प्रसाद जैन के उनको प्रकाशनार्थ प्रेषित पत्र को नीचे प्रकाशित किया जा रहा है—

श्री पारस दास जैन—

"दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका के १६-३० सितम्बर १९९३ के अंक में द्वितीय पृष्ठ पर "श्री सेठी उवाच" शीर्षक से श्री अजित प्रसाद जैन, अध्यक्ष तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र. व सम्पादक शोधादर्श लखनऊ, का लेख छपा है। **हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि लेख में जो भी विचार व्यक्त किए गए हैं वे पूरी तरह लेखक के अपने हैं।** महासमिति अथवा पत्रिका सम्पादक का यह अभिमत नहीं है। **इस लेख से महासमिति का कोई सम्बन्ध नहीं है।**

श्रवणबेलगोला के भट्टारक पूज्य स्वामी चारुकीर्ति जी महाराज एवं गोम्मटेश्वर बाहुबली महामस्तकाभिषेक महोत्सव समिति १९९३ के अध्यक्ष साहू अशोक कुमार जैन ने लेख के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए इस बात को निराधार बताया है कि ऋषभ कुमार ने जिस बाला से विवाह कर समाज में विवाह-प्रथा का आरम्भ किया था उसके पूर्व पति की मृत्यु हो चुकी थी और इसी से ऋषभदेव को बाहुबली एवं सुन्दरी सन्तानें प्राप्त हुईं । यह बात सर्वथा निराधार है और हमारे शास्त्रों में इसका कोई उल्लेख नहीं है और हमारी मान्यता के विपरीत है ।

हमें खेद है कि लेख पूर्ण रूप से उसी प्रकार प्रकाशित कर दिया गया जिस प्रकार हमें प्राप्त हुआ था और इसमें लिखित उक्त बात से समाज में भ्रांत धारण पैदा हुई तथा मन को ठेस पहुंची । ये अंश निकाले जा सकते थे जो असावधानीवश निकाले नहीं गए ।''

**श्री अजित प्रसाद जैन—**

''महासमिति पत्रिका के दिनांक १६-३० सितम्बर १९९३ के अंक में प्रकाशित हमारे लेख ''श्री सेठी उवाच'' के विषय में आपने जो स्पष्टीकरण पत्रिका के १-१५ नवम्बर १९९३ के अंक में प्रकाशित किया है तथा हमारे पूरे लेख को असावधानीवश छपने के लिए जो खेद प्रकाश किया है, उसे पढ़कर हमें सखेद विस्मय हुआ । हम अपने लेख के विषय में नीचे कुछ स्पष्टीकरण दे रहे हैं, आशा है आप हमारे इस पत्र को भी पत्रिका में प्रकाशित कर अनुग्रहीत करेंगे ।

यह तो ठीक है कि लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है तथा सम्पादक जी इनसे पूर्ण असहमति भी व्यक्त कर सकते हैं । किन्तु जिस प्रकार श्रवणबेलगोला के भट्टारक जगद्गुरु चारूकीर्ति स्वामी जी ने तथा महोत्सव समिति के अध्यक्ष साहू अशोक कुमार जी ने हमारे लेख के भगवान ऋषभदेव की दूसरी पत्नि से विवाह प्रसग संबंधी अंश को सर्वथा निराधार घोषित किया है, वह आपत्तिजनक है ।

हमारे लेख के इस अंश के प्रमाण में देखें— आवश्यक भाष्य की गाथा २२, ११९ व १२०, आचार्य भद्रेश्वर कृत कहावली, आचार्य हेम चन्द्र

कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं, आचार्य शीलांक कृत चउप्पन-महापुरिस-चरियं, तथा आचार्य हस्तीमल महाराज कृत जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग। ये सब श्वेताम्बर जैन आम्नाय के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं तथा यदि भट्टारक जी ने व साहू जी ने इनका परिशीलन किया होता तो वे हमारे कथ्य को 'सर्वदा निराधार' घोषित करने की भूल नहीं करते।

'एक विचार धारा यह भी है' इन शब्दों से ही स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है कि यह दिगम्बर आम्नाय के बाहर की अनुश्रुति है, पर इतने मात्र से ही यह सर्वथा निराधार नहीं हो जाती। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तत्संबंधी श्वेताम्बर परम्परा भी लगभग उतनी ही प्राचीन है जितनी दिगम्बर आम्नाय की परम्परा तथा उसे बिल्कुल ही अनदेखा नहीं किया जा सकता।"

**JAIN JOURNAL**, July 1993, pub. Jain Bhavan, P-25, Kalakara Street, Calcutta-700007.

It continues the reproduction of A. F. Weber's **Sacred Literature of the Jains**, and carries a report on the Jaina Convention held at Pittsburgh in July 1993, by Mr. Sushil Jain of Ontario.

**JINAMANJARI**, Dec. 1993, pub. Brahmi Society, 4665 Moccasin Trail, Mississauga, Ontario, Canada L4Z 2W5.

It is a special edition devoted to Bahubali legend and Gommata Mahamastakabhisheka held in December 1993. Dr. Balvant Jani's article 'Bharatesvara Bahubali Rasa – Theme and Mode of Presentation' introduces for the first time an early Gujarati poetic work composed in V. S. 1245 (i. e , 1188 A.D.) by Salibhadrasuri of Rajgaccha. The narrative faithfully reflects the contemporary thinking on the principle of primogeniture in kingship and brings home the point that a king must uproot all contenders, the worst of whom are the brothers and half-brothers, to the throne without any scruple and qualms of conscience.

—डा० शशि कान्त

★

# समाचार विमर्श

**—श्री अजित प्रसाद जैन**

## धूम महा-महोत्सवों की

इन दिनों उत्सव-प्रिय दिगम्बर जैन समाज में धार्मिक महा-महोत्सवों की धूम मची हुई है। हमारा तात्पर्य तीर्थ क्षेत्रों के वार्षिकोत्सवों, स्थानीय धार्मिकोत्सवों व विशाल स्तर पर आयोजित पूजा विधानों से भिन्न उन पंच कल्याणक महोत्सवों आदि से है जो क्षेत्रीय परिधि से उठकर प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर मनाए जा रहे हैं। अभी गत दिसम्बर मास में दिगम्बर जैनों का महाकुम्भ कहा जाने वाला गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि का द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक महोत्सव श्रवणबेलगोला में बड़े वैभवपूर्ण प्रदर्शन एवं प्रभावना सहित अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्पन्न हुआ जिसमें कर्नाटक राज्य सरकार ने भी करोड़ों के व्यय का सहयोग किया और उससे भी अधिक करोड़ों का व्यय महामस्तकाभिषेक महोत्सव समिति ने किया। लक्ष-लक्ष श्रद्धालु जनों के कुल व्यय का तो अनुमान लगाना भी कठिन है। इस महोत्सव की उपलब्धि में श्रवणबेलगोला मठ को भी भारी बचत हुई बताई जा रही है। महोत्सव के अवसर पर अखिल भारतीय जैन युवा सम्मेलन तथा महिला सम्मेलन भी आयोजित किए गए थे किन्तु उनमें औपचारिकता ही अधिक रही, समाज को दिशा बोध देने या प्रगति की ओर ले जाने जैसा कोई ठोस कार्य हुआ प्रतीत नहीं हुआ। यद्यपि मुनि, त्यागी, व्रतियों ने भी बड़ी संख्या में उपस्थित होकर महोत्सव के कार्यक्रम को गरिमा प्रदान की थी तथापि १९८१ के महामस्तकाभिषेक महोत्सव के अवसर पर गठित मुनि परिषद तथा श्रमणाचार में व्याप्त शिथिलता की रोक-थाम के लिए पारित प्रस्ताव के अनुरूप इस बार कोई प्रयास नहीं किया गया मालूम पड़ता। कदाचित उक्त प्रस्ताव के क्रियान्वयन की निष्फलता को देखकर किसी ऐसे प्रयास की पुनरावृत्ति उचित न समझी गई हो।

गत दिसम्बर मास में ही ललितपुर में भी चतुर्विशंती जिन बिम्ब प्रतिष्ठा पंच कल्याणक, नव गजरथ महोत्सव सहित, देवगढ़ क्षेत्र की मूर्तियों के जीर्णोद्धार (?) से प्रसिद्धी को प्राप्त मुनि सुधासागर के मार्ग दर्शन में अभूतपूर्व उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। इस महोत्सव में पहली बार नौ गजरथों की विशाल परिक्रमा हुई। अभी तक एक, दो, पांच या सात तक ही गजरथ सुनने में आए

थे। महोत्सव में भाग लेने वाले धर्म बन्धुओं की संख्या पांच से सात लाख अनुमानित की गई है।

अभी इस वर्ष फरवरी–मार्च–अप्रैल माह में ही निम्नलिखित स्थानों पर आयोजित पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों की जानकारी हमें प्राप्त हुई है—

१. श्री अयोध्या जी—नवनिर्मित तीन-चौबीसी मन्दिर व उसकी ७२ तीर्थंकर प्रतिमाओं की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा,
२. आगरा—कमलानगर में नव निर्मित मन्दिर—**पंच गजरथ महोत्सव सहित**,
३. बड़ौदा— कारेली बाग विस्तार में नवनिर्मित मन्दिर,
४. इंदौर— छत्रपति नगर में नवनिर्मित आदिनाथ जिनालय – **गजरथ-महोत्सव सहित**,
५. मंडावर— महुआ रोड (राजस्थान),
६. छिन्दवाड़ा (म.प्र.)— श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर,
७. दिल्ली— माडल टाउन में नवनिर्मित मन्दिर,
८. भिण्ड (म.प्र.)— नवनिर्मित मन्दिर,
९. हस्तिनापुर— नवनिर्मित त्रि-समवशरण मन्दिर,
१०. श्रावस्ती— नवनिर्मित चौबीसी मन्दिर,
११. टोंकर ग्राम (केशरियाजी के निकट – राज०)— नवनिर्मित मन्दिर,
१२. महराजपुर (सागर),
१३. सोनागिरि जी— **सिहरथ महोत्सव** सहित,
१४. पपौर जी तीर्थ क्षेत्र, और
१५. रहली (सागर)।

उपरोक्त के अतिरिक्त और भी कुछ स्थानों में पंच कल्याणक प्रतिष्ठाएं सम्पन्न की जा रही हैं जिनकी हमें निश्चित जानकारी नहीं है।

इन सब में सर्वोपरि एवं सर्वाधिक चर्चित आर्यिका रत्न ज्ञानमती जी के मार्ग दर्शन में सम्पन्न श्री अयोध्या जी तीर्थक्षेत्र पर भूत-भविष्य-वर्तमान की ७२ तीर्थंकर प्रतिमाओं के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सहित भगवान ऋषभदेव का महामस्तकाभिषेक महोत्सव है जिसे दिगम्बर जैनों के उत्तर के कुम्भ की संज्ञा दी गई है तथा जिसके प्रमुख संचालक भी महामन्त्री के रूप में उत्तर भारत के कर्मयोगी ब्र० रवीन्द्र कुमार जी थे।

पूज्य आर्यिका जी ने श्री अयोध्या जी दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र के समग्र विकास के लिए संकल्पित होकर गत चातुर्मास श्री अयोध्या जी क्षेत्र पर ही ससंघ सम्पन्न किया तथा उनकी प्रेरणा और मार्ग दर्शन में रायगंज उद्यान के ऋषभदेव मन्दिर के अगल-बगल तीन-चौबीसी मन्दिर तथा समवशरण मन्दिर का द्रुत गति से निर्माण हुआ। क्षेत्र को लोक प्रियता प्रदान करने के लिए माता जी ने श्रवणबेलगोला के खुले आकाश में खड़ी ५७ फुट ऊंची गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि की प्रतिमा के द्वादश-वर्षीय महामस्तकाभिषेकोत्सव की तर्ज पर भगवान ऋषभदेव की ३१ फुट उत्तुंग शिखरबंद प्रतिमा के पंचवर्षीय महामस्तकाभिषेक महोत्सव की कल्पना की है तथा इस वर्ष प्रथम बार महामस्तकाभिषेक आयोजित करके इस कल्पना को साकार रूप प्रदान किया है। माता जी में राजनयिकों को जुटाने की अद्भुत क्षमता है तथा वे इस प्रथम आयोजन में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, वर्तमान एवं निवर्तमान मुख्य मंत्री तथा दो केन्द्रीय मन्त्रियों को बुलाने में सफल रहीं। मुख्य मंत्री ने जैन समाज के हित में तथा अयोध्या के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण घोषणाएं भी कीं जिनमें से केवल एक (भगवान ऋषभदेव नेत्र चिकित्सालय की स्थापना) का ही अपने बजट भाषण में उन्होंने विधान सभा में उल्लेख किया।

अयोध्या के इस महोत्सव में क्षेत्र कमेटी के एक उच्च पदाधिकारी के अनुसार निम्नलिखित अन्य विशेषताएं उल्लेखनीय रहीं—

(१) यात्रियों की संख्या सामान्यतया छह-सात हजार रही जो अन्तिम दिन बारह-पन्द्रह हजार तक पहुंच गई थी किन्तु आवास व्यवस्था अधिक सन्तोष-जनक नहीं रही। यात्रियों की संख्या चाहे जो रही हो पर इसमें कोई संदेह नहीं कि अयोध्या में जैन श्रद्धालुओं का इतना भारी जमावड़ा कभी नहीं हुआ।

(२) डा० प्रेम चन्द्र (इलाहाबाद वाले) के प्रबन्ध में भोजन व्यवस्था इतने विशाल स्तर पर भी बहुत सुन्दर थी।

(३) सारे महोत्सव में प्रतिदिन बोलियों का ही विशेष बोल-बाला रहा। प्रातः सायं दो-दो घन्टे प्रति दिन माइक पर बोलियों की ही गूंज सुनाई पड़ती थी। २३ फरवरी को पांच बैल रथों पर (पंच गजरथ की तर्ज पर) जिनेन्द्र भगवान की सवारी निकाली गई। सामान्यतया एक ही रथ पर जिनेन्द्र भगवान की सवारी निकाली जाती है पर बोलियों की संख्या पांच गुना करके अधिक

धन अर्जित करने के लिए पंच-रथ की योजना रखी गई। अभिषेक-पूर्व संध्या को शुरू हुई बोलियों का कार्यक्रम तो देर रात तक चलता रहा।

(४) २४ फरवरी को भगवान ऋषभदेव का प्रथम महामस्तकाभिषेक नारियल जल, इक्षु रस, तीन क्विन्टल सन्तरा रस, अंगूर रस व अनार रस, दूध, दही, काष्ठादिक औषधियों तथा जल से किया गया। इन सब पदार्थों का मनो की मात्रा में उपयोग किया गया तथा प्रत्येक पदार्थ की बोली हुई।

(५) तीन-चौबीसी मन्दिर का निर्माण पूरा हो गया है लेकिन उसमें बाहर और भीतर भव्यता जैसी कोई चीज नहीं है। एक बड़े कमरे का निर्माण कर बीच में सीमेन्ट का तीन पटल का एक विशाल कमल बनाकर उसे लाल रंग से पेन्ट कर दिया गया है। ऊपर नीचे तलों में विराजित चौबीस-चौबीस प्रतिमाओं का दैनिक प्रक्षाल, विशेषकर ऊपर के दो तलों में विराजित प्रतिमाओं का जिन तक पूजार्थियों का हाथ भी नहीं पहुंचता, किस प्रकार होगा यह विस्मय जनक है।

(६) क्षेत्र पर पहले ही से विद्यमान मन्दिरों की प्रतिमाओं की पूजा-प्रक्षाल में ही जो वैतनिक कर्मचारी द्वारा कराई जाती है, कठिनाई पड़ी रहती है।

(७) क्षेत्र पर महोत्सव में भाग लेने के लिए दो मुनिराज भी पहुंच गए थे, लेकिन सारे समारोह में उनकी नितान्त उपेक्षा की गई। आरती, जय-जयकार केवल माता जी (ज्ञानमती जी) की ही की जाती थी यद्यपि मुनिराज भी समारोह में विद्यमान रहते थे।

**धार्मिक कार्यों के लिए बोलियों के माध्यम से अर्थ संग्रह का तरीका जैन समाज में सामान्य प्रथा है, परन्तु इसके ऐसे रूप से जो धर्म विधियों को व्यापार ही बना दे, जैन धर्म की, विशेषकर अजैनों की दृष्टि में, कितनी प्रभावना होती है, यह कहना कठिन है। मनो मूल्यवान फल रसों, दूध, दही का अभिषेक के नाम पर उपयोग करने में क्या बुद्धिमत्ता है यह भी हमारी समझ के बाहर है जब कि इन्द्र ने तीर्थंकर शिशु का सुमेरु पर्वत पर केवल जलाभिषेक ही किया बताया जाता है। माता जी के मार्ग दर्शन में सम्पन्न हुए इस विशाल उत्सव से क्षेत्र को कई स्थाई उपलब्धियां प्राप्त हुई जिसके लिए क्षेत्र कमेटी को उनका ऋणी होना चाहिए। किन्तु हमें तीन-चौबीसी मन्दिर के सामान्य निर्माण से मन्दिर निर्माण की इस योजना का उद्देश्य ही समझ में नहीं आया। यदि**

**भव्य वास्तुकला की एक उत्कृष्ट कृति के रूप में इसका निर्माण होता तो यह जैन-अजैन यात्रियों व पर्यटकों का आकर्षण केन्द्र बन जाता।**

सोनागिरि पंच कल्याणक महोत्सव के आयोजन के मार्ग निर्देशक मुनि श्री तो कल्पना की उड़ान में सबसे बाजी ले गये। उन्होंने गजरथों की घिसी-पिटी बुन्देलखण्डी प्रथा को नया मोड़ देकर पंचकल्याणक महोत्सव में सिंह-रथ चलाने की घोषणा करा दी, और मांसाहारी क्रूरतम पशु को वीतराग अर्हन्त प्रभु की सवारी का वाहन बना दिया। कदाचित् यह अनोखी कल्पना अधिक यात्रियों को आकर्षित करने में सक्षम हो !

हमें इन पंच कल्याणक प्रतिष्ठाओं में सैकड़ों की संख्या में नवीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा किया जाना बड़ा विचित्र लगता है। क्या महापंडित प्रतिष्ठाचार्य सूरि मंत्रादि द्वारा इन प्रतिमाओं में तीर्थंकरों की सिद्ध आत्माओं के अपने सिद्ध शिला के निवास से अवतरित हो कर प्रतिष्ठित हो जाने का दावा करते हैं ? जहां तक हम समझते हैं, पंचकल्याणक की आडम्बर पूर्ण क्रिया का प्रयोजन प्रतिमाओं को मन्त्रादि द्वारा शुद्ध एवं अभिषिक्त कर पूज्य स्वरूप प्रदान करना है तथा "प्राण प्रतिष्ठा" की क्रिया वैष्णव पद्धति का अन्धानुसरण हैं।

**इन महोत्सवों के वैभव पूर्ण आयोजनों में समाज का करोड़ों रुपये का व्यय अनुमानित है। आयोजकों को भी इस धार्मिक व्यापार में लाखों-करोड़ों का शुद्ध लाभ हुआ होगा जो हम आशा करते हैं उनके द्वारा अन्य धर्म कार्यों में व्यय किया जायेगा। स्थायी उपलब्धि के रूप में हमें कुछ नवीन मंदिरों का निर्माण तथा कुछ सौ नवीन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है जब कि पहले से ही प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की पूजा-प्रक्षाल के लिए श्रद्धालु श्रावकों का अभाव बना रहता है। हमारी समझ में नहीं आता कि जिन स्थानों में पहले से ही मंदिर विद्यमान हैं तथा उन्हीं की संभाल ठीक प्रकार नहीं हो पा रही है वहां नवीन मंदिरों के निर्माण से समाज का क्या भला होता है या धर्म की क्या प्रभावना होती है। यदि ये नव निर्मित मंदिर वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में भव्य एवं कलात्मक निर्मित होकर जैन-अजैन जनता के आकर्षण केन्द्र बनते तो भी कुछ बात थी किन्तु एकाध अपवाद को छोड़कर ऐसा भी कुछ निर्मित नहीं हुआ। हम यह भी नहीं समझ पाते हैं कि जहां अनेक मंदिरों में अनगिनत प्रतिमाओं की विधिवत् पूजा-प्रक्षाल नहीं हो पाती वहां के उन**

**मंदिरों से आवश्यकतानुसार प्रतिमाएं प्राप्त कर नव-निर्मित मंदिरों में क्यों नहीं प्रतिष्ठापित की जा सकतीं।**

**इन महा-महोत्सवों में जो विपुल धनराशि की आयोजकों को प्राप्ति होती है तथा जो भारी व्यय किया जाता है उनमें, एकाध अपवाद को छोड़ कर, हमने किसी के आय-व्यय विवरण को समाज की किसी पत्र-पत्रिका में छपते नहीं देखा। हमारा सुझाव है कि जिस किसी भी महोत्सव में दस लाख रुपये या उससे अधिक का आय-व्यय अनुमानित हो उसका हिसाब विधिवत् आडिट कराकर समाज की शीर्ष संस्थाओं – महासमिति, महासभा व परिषद– के मुखपत्रों में से किसी में प्रकाशित कराया जाया करे। आडिट की व्यवस्था उपरोक्त तीनों संस्थाओं द्वारा मिलकर या इनमें से किसी एक के द्वारा एक स्वतन्त्र आडिट संगठन का निर्माण करके की जाय। समाज में चार्टर्ड एकाउन्टेन्टों की कमी नहीं है, अतः सेवा-भावी आडिट विशेषज्ञों की सेवाएं इस कार्य के लिए प्राप्त होने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।**

## नेपाल में दो तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक तीर्थ की स्थापना

१९वें तीर्थंकर भगवान मल्लिनाथ तथा २१वें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ के जन्म कल्याणक की भूमि होने का गौरव मिथिला नगरी को प्राप्त था जो अब नेपाल देश में जनकपुर ग्राम के रूप में अवस्थित है। नेपाल के प्रसिद्ध उद्योग-पति श्री हुलाशचन्द्र गोलछा (श्वे० जैन) तथा काठमाण्डू में दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख श्री बी० एल० जैन के सत्प्रयास से नेपाल सरकार ने जनकपुर ग्राम में १० एकड़ भूमि उपरोक्त तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म कल्याणक तीर्थ क्षेत्र के रूप में विकसित करने के लिए आवंटित करने का आश्वासन दिया है। यह भूमि जनकपुर से एक किलोमीटर अन्दर मुख्य सड़क से लगी हुई है तथा इसमें से ४ एकड़ भूमि दिगम्बर जैन समाज को तथा ६ एकड़ भूमि श्वेताम्बर समाज को दी जायेगी। दिगम्बर जैन समाज के नेता तथा उत्तरांचल दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्री सुकुमार चन्द्र जैन ने इस क्षेत्र के विकास के लिए रु० ५०,०००/- दिए हैं।

हम आशा करते हैं कि यह भूमि जैन समाज को भ० मल्लि व नमि का जन्म कल्याणक तीर्थ क्षेत्र विकसित करने हेतु शीघ्र ही उपलब्ध हो जायेगी तथा विकास का कार्य भी श्री सुकुमार चन्द्र जी के द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से

शीघ्र ही प्रारम्भ हो जायेगा। हम इस सामयिक दान के लिए भाई सुकुमार चन्द्र का अभिनन्दन करते हैं और हम श्री सुबोध कुमार जैन, आरा, को भी साधुवाद देते हैं कि उनके विगत कई वर्षों के पत्राचार के बाद नेपाल सरकार से यह आश्वासन प्राप्त किया जा सका।

**यह विस्मय की बात है कि श्री सुबोध कुमार जी द्वारा प्रसारित उपरोक्त समाचार में, जो अहिंसा सन्देश (रांची), दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका (दिल्ली) और जैन महिलादर्श में प्रकाशित हुआ है, नमिनाथ के स्थान पर नेमिनाथ लिखा गया है। २१वें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म स्थान मिथिला था जब कि २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म स्थान शौरीपुर था। महासमिति पत्रिका और महिलादर्श के सम्पादक/सम्पादिका कम से कम दिगम्बर जैन धर्म शास्त्रों के तो अध्येता विद्वान हैं ही, अतः उनका नमि व नेमि की जन्मभूमि के बारे में अनभिज्ञ होना और अपनी बहु-प्रसारित पत्रिकाओं में विभ्रमात्मक समाचार प्रसारित करना विशेष रूप से अटपटा लगा।**

## सल्लेखना भंग कराई गई

सिकन्दराबाद (आंध्र प्रदेश) के एक चौरासी वर्षीय स्थानकवासी सु-श्रावक श्री लालचन्द्र जी डूंगरवाल ने गत ५ फरवरी १९९४ को अपने परिवार व समाज के सम्मुख समाधिमरण की भावना से सल्लेखना व्रत ग्रहण किया। कुछ स्थानीय प्रगतिवादी समाज बन्धुओं ने स्थानीय पुलिस थाने में श्री लालचंद्र जी के खिलाफ आत्महत्या का मामला दर्ज करा दिया। दि० २८ फरवरी को पुलिस ने श्री लालचन्द्र जी को गिरफ्तार करके इलाज के लिए जबरदस्ती अस्पताल में भर्ती कर दिया तथा उन्हें मजबूर किया जाने लगा कि वे अपना व्रत भंग करके भोजन स्वीकार कर लें।

स्थानकवासी श्रमण संघ के प्रमुख आचार्य प्रवर देवेन्द्र मुनि जी को जब इस घटना से अवगत कराया गया तो उनके आदेश से नारनौल से प्रधान मन्त्री जी, आंध्र प्रदेश के मुख्य मंत्री जी आदि को तार करवाये गए जिसमें इस संथारे का अनुमोदन करते हुए श्री लालचन्द्र जी को मुक्त करने का आग्रह किया गया किन्तु दि० १५ मार्च को अस्पताल में जबरन श्री लाल चन्द्र जी को आहार-पान कराकर उनका संथारा व्रत भंग करा दिया गया।

सल्लेखना व्रत सहित समाधि-मरण संसार-देह से ममत्व त्यागकर समता पूर्वक मृत्यु का वरण करना, जैन धर्म-साधना की एक उत्कृष्ट विधि है जो

साधुओं के लिए तो सामान्य रूप से अपेक्षित है ही, ग्रहस्थों के लिए भी अनुकरणीय है। किन्तु यह समय से पूर्व जीवन का अन्त करने, अर्थात् आत्महत्या, की कोई धर्म-सम्मत विधि नहीं है।

सल्लेखना व्रत स्वीकार करने के पूर्व साधक अपनी समस्त धन सम्पत्ति को दान व पुत्रादि को हस्तान्तरित करके उसका ममत्व छोड़ता है तथा कषायों के पूर्ण त्याग का प्रयोग करता है। वह स्त्री, सुत, परिजन आदि के मोह को क्षीण करके अपनी आत्मा को आत्मा से आत्मा में ध्याने का प्रयास करता है। वह शरीर का ममत्व भी क्षीण करने के लिए आहार-पान भी क्रमिक रूप से अल्प करता जाता है। अन्त समय आने पर वह मृत्यु का आलिगन बिना किसी क्षोभ-विषाद के समता पूर्वक करता है। ऐसा मरण ही समाधिमरण है, पंडित-मरण है।

**किन्तु यदि आसन्न मृत्यु की संभावना न हो तो गृहस्थ श्रावक को यम सल्लेखना स्वीकार नहीं करनी चाहिए। उस स्थिति में वह आत्मघात ही कहलाएगा। श्री लालचन्द्र जी ने ५ फरवरी को सल्लेखना व्रत स्वीकार किया था तथा १५ मार्च को उन्हें जबरन आहार-पान कराकर उनका व्रत भंग करा दिया गया तथा वे अभी भी जीवित हैं, इससे स्पष्ट है कि उनका सल्लेखना व्रत धारण करना असामयिक था तथा धर्म-सम्मत नहीं था।**

## तीस-चौबीसी मन्दिर का शिलान्यास

श्री अहिच्छत्र-पार्श्वनाथ तीर्थ क्षेत्र पर महासभाध्यक्ष श्री निर्मलकुमार जी सेठी द्वारा तीस-चौबीसी मन्दिर का शिलान्यास किया गया। क्षेत्र के अध्यक्ष श्री प्रेमचन्द्र द्वारा ७८ प्रतिमाएं तथा उनकी पत्नि द्वारा एक प्रतिमा दान देने की घोषणा की गई।

इस क्षेत्र पर तीस-चौबीसी महामन्दिर की कल्पना का श्रेय ज्ञानमती माता जी को है जिन्होंने गत वर्ष अयोध्या के लिए विहार करते हुए इस क्षेत्र पर अपने प्रवास में क्षेत्र समिति को इसकी प्रेरणा दी थी। श्री अयोध्या जी तीर्थ क्षेत्र पर माता जी की प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन में तथा उनके अनुज ब्र० रवीन्द्र कुमार जी की सीधी देख-रेख में निर्मित तीन-चौबीसी मन्दिर के अति सामान्य निर्माण से यह आशा साकार नहीं हुई कि वह मन्दिर वास्तुकला की एक ऐसी भव्य कृति होती जो यात्रियों एवं पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बनती।

**हम आशा करते हैं कि अहिच्छत्र-पार्श्वनाथ तीर्थक्षेत्र पर निर्मित होने जा रहे महामन्दिर को तो वास्तुकला की एक उत्कृष्ट कृति के रूप में ही निर्मित किया जाएगा, भले ही इस प्रकार के निर्माण में कुछ अधिक वर्षों का समय लग जाये। यदि दुर्योगवश ऐसा नहीं हुआ तो यह भी मन्दिर निर्माताओं के कुरुचि-पूर्ण धर्म-व्यापार का ही एक नमूना बन कर रह जाएगा।** आशा है, क्षेत्र समिति इस विषय में गम्भीरता पूर्वक ध्यान देगी तथा अयोध्या के तीन-चौबीसी मन्दिर के दृष्टान्त को नहीं दोहराएगी।

## जब मुनियों ने सामूहिक अनशन किया

चातुर्मास समाप्ति के उपरान्त आचार्य सन्मति सागर जी व आचार्य सुधर्म सागर जी ससंघ (२२ पीछियां) अजमेर से विहार कर मदनगंज-किशनगढ़ आए। दोनों संघों के कुछ साधु-साध्वियों ने स्थानीय दिगम्बर जैन समाज से १८ फरवरी को आचार्य सन्मति सागर जी की ५६वीं जयन्ती सहभोज सहित मनाने को कहा। अखबारों में प्रकाशित आचार्य सुधर्म सागर जी के बयान के अनुसार किशनगढ़ की जैन समाज पहले तो भोज आयोजित करने के लिए सहमत हो गई किन्तु बाद में इससे मुकर गई। दूसरी ओर समाज के कुछ लोगों का कहना है कि भोज आयोजित करने तथा उसका खर्चा उठाने के विषय में कोई सहमति नहीं हुई थी। इन लोगों ने इस बारे में **साधु संतों पर गलत बयानी करने का आरोप भी लगाया।** इससे स्वयं को अपमानित महसूस कर दोनों संघों के सभी २२ साधु-साध्वियों ने अनशन प्रारम्भ कर किया जो बाद में राजस्थान सरकार के कुछ मन्त्रियों व समाज के वरिष्ठ लोगों के हस्तक्षेप से तथा भोज आयोजति किए जाने के आश्वासन के बाद समाप्त हुआ। बाद में आचार्य सन्मतिसागर जी की जयन्ती भी धूमधाम से मनी, शोभा यात्रा भी निकली और सहभोज भी हुआ। (**वीर वाणी** से साभार)

जैन धर्म में संयम साधना की वृद्धि हेतु साधु-सन्तों का उपवास-तप करना एक सामान्य बात है, साधु-सन्तों की जयन्ति को विराजित स्थल की समाज द्वारा गुणानुवाद सभा एवं सहभोज सहित समारोह पूर्वक मनाया जाना भी एक सामान्य बात हो गई हैं। किन्तु इस सब के आयोजन के लिए समाज को बाध्य करने के प्रयोजन से पंचमहाव्रत धारी वीतरागी साधु-साध्वियों द्वारा सामूहिक अनशन का मार्ग अपनाने से उनकी गरिमा और प्रतिष्ठा में कोई अभिवृद्धि हुई हो, हमें ऐसा नहीं लगता। घोर धर्म विघ्न उपस्थित होने पर उसके निवारण

पर्यन्त जैन मुनियों ने अतीत में दीर्घ काल तक अनशन किए हैं तथा अन्तत: प्राण तक विसर्जित किए हैं। राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एवं स्वार्थ सिद्धि के लिए महात्मा गांधी से लेकर आज तक अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक नेताओं ने अनशन अस्त्र का सहारा लेकर न्यूनाधिक सफलता प्राप्त की है। किन्तु **एक आचार्य श्री की जयंती सहभोज सहित मनाने के अति महत्व हीन प्रयोजन के लिए श्रावक समाज को बाध्य करने हेतु वीतरागी कषाय-जयी जैन साधु-साध्वियों द्वारा सामुहिक अनशन का आलम्बन लेना जैन साधु संस्था को ही उपहासास्पद बना देता है।**

## आचार्य पद त्याग

१८ फरवरी को मर्यादा महोत्सव के अवसर पर जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के नवम अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी ने स्वेच्छया निवृत्त होकर युवाचार्य महाप्रज्ञ को तेरापंथ के दसवें आचार्य का दायित्व सौंप दिया।

**किसी महिमा मंडित पट्टाधीश आचार्य द्वारा अपने जीवन काल में ही जबकि वे शारीरिक अक्षमता अन्य किसी आधि-व्याधि से भी ग्रसित नहीं हैं, अपने आचार्य पद को अपने शिष्य को प्रदान कर देना जैन श्रमण इतिहास में एक अभूत पूर्व घटना है।** दिगम्बर जैनाचार्य श्री ज्ञान सागर महाराज ने भी अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्या सागर महाराज को अपने जीवन काल में ही आचार्य पद प्रदान कर उनकी वन्दना की थी किन्तु ऐसा उन्होंने यम सल्लेखना व्रत धारण करने के लिए किया था। कुछ ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिनमें आचार्य ने स्वयं आचार्य पद पर रहते हुए शिष्य को भी आचार्य पद से अलंकृत कर दिया तथा दोनों आचार्य अन्य शिष्य विहीन रह कर एक साथ विचरण करते हैं। ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होंने शिष्य को आचार्य पद से अलंकृत करके उसे अपने विशाल संघ के कुछ साधुओं के साथ अलग विहार करने की अनुमति प्रदान कर दी। परन्तु तेरापंथ के युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का यह कृत्य इन सबसे अनूठा है। हम दशम पट्टाचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा उन्हें दिए संबोधन 'तेरापंथ के गणाधिपति गुरुदेव' के रूप में उनका अभिनन्दन करते हैं।

★

# इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन

स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन की ८२वीं जन्म जयन्ति पर ज्योति निकुंज, लखनऊ, में विख्यात पत्रकार एवं साहित्यकार श्री ज्ञानचन्द जैन की अध्यक्षता में दिनांक ६ फरवरी, १९९४, को एक संगोष्ठी हुई। डाक्टर साहब के लेख 'यह कैसा अपरिग्रहवाद ?' का वाचन हुआ और उनकी रेडियो वार्ता 'नदिया एक, घाट बहुतेरे' सुनी गई। श्री ज्ञानचन्द जैन, श्री अजित प्रसाद जैन, डा० पूर्ण चन्द्र जैन और डा० इन्दुभूषण जिन्दल ने अपने उद्‌गार और संस्मरण प्रस्तुत किये। श्री प्रसन्न कुमार दीक्षित 'शेखर' ने अपनी कविता 'यश की सुगन्धि बगराये जा' के माध्यम से श्रद्धांजलि दी। श्री रमा कान्त ने अपने उद्‌गार प्रकट किये—

जो कभी इतिहास-मनीषी थे, अब स्वयं इतिहास हो गये।
उनकी स्मृतियां ही हैं पास, वे हमारे प्रेरणास्रोत ही रह गये।
उनसे अगर कुछ सीख पायें हम, तो निश्चय ही जीवन परीक्षा में पास हो गये।

और डा० महावीर प्रसाद जैन ने भी निम्नलिखित श्रद्धासुमन अर्पित किये—

याद तुम्हारी फिर आयी है ज्योति पर्व का ले आह्वान।
यही दिवस था अमर ज्योति ने पाया था जब जन्म महान ।।
आत्म विकास पंथ पर चल कर सीमित ज्योति अनन्त बनी।
जन जन के मन में प्रवेश पा नव जीवन का मंत्र बनी ।।
ज्ञान सूर्य विद्या के वारिधि तुम्हें नमन करता यह मन है।
तुम्हें समर्पित भाव पूर्ण स्मृतियों के ये पुष्पित कण हैं ।।
ऋणी रहेंगे सदा तुम्हारे तुमने जो वरदान दिया है।
मार्ग प्रदर्शक बनकर सबको अनुपम ज्ञान प्रदान किया है ।।
जीवन था सबके हित में रचनाएं थीं जन कल्याणी।
किस विधि वर्णन करें तुम्हारा 'महावीर' की रुकती वाणी ।।

जीवन में उतरो हम सबके ज्ञान ज्योति के अमर संत हे ।
फिर हम तुम्हे नमन करते हैं जय जयंत हे, जय जयंत हे ।।

बड़ौत से डा० प्रेमसागर जैन ने अपने उद्गार निम्नवत व्यक्त किये—

"दिगम्बर जैन शोध खोज के तीन मजबूत स्तम्भ थे– डा. हीरा लाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये और डा० ज्योति प्रसाद जैन। तीनों को मैंने जैन शोध को समर्पित ही नहीं, पूर्ण समर्पित देखा है।

उस समय कुछ दिग्गज पंडित भी थे और उन्होंने जीवन भर जैन वाङ्मय पर लिखा–जमकर लिखा और प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन किया। उन्हें जैन सिद्धान्त और दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान था। संस्कृत प्राकृत का अधिकृत ज्ञान था। वे गोल्ड थे। सब लोग गोल्डन में विश्वास करते हैं। किन्तु उनमें एक कमी भी थी कि वे इंगलिश नहीं जानते थे, अत: वे पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का अध्ययन न कर सके। यही कारण है कि उनकी भूमिकाओं में सार्वभौमिकता न आ सकी।

डा० ज्योति प्रसाद जैन एक अधिकारी विद्वान और लेखक थे। उनका अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं पर अधिकार था। उन्होंने अंग्रेजी में लिखा और हिन्दी में भी। सभी ने उनके साहित्य की सराहना की। उनकी खूबी थी कि जो कुछ लिखते, उसके पीछे तलस्पर्शी अध्ययन होता था। यही कारण था कि उनका किसी ने कभी खण्डन नहीं किया।

सम्प्रेषण शक्ति ऐसी थी कि जो कुछ लिखते पाठक आसानी से पचा लेता था। उन्होंने जैन इतिहास के बन्द अध्यायों को खोला। आज हरेक जैन अनुसन्धित्सु उनका ऋणी है।

डा० ज्योति प्रसाद जैन ने अपने जीवन काल में ही जो एकेडेमिक ऊँचाइयाँ प्राप्त कीं, उनसे वे भारत में ही नहीं, विदेशों में भी ख्याति प्राप्त बने। विद्वत्ता, ख्याति, धन-दौलत आदि और लोग भी प्राप्त कर लेते हैं, की भी है, कर भी रहे हैं, किन्तु इन्सान होने के नाते इन्सानियत एक अनिवार्य तत्त्व है, जो होना ही चाहिए। डा० ज्योति प्रसाद जैन में यह था, मैंने देखा है। मैं तीन बार लखनऊ गया और तीनों बार उनका स्नेहिल व्यवहार मैं आज भी भूला नहीं हूं। वे अविस्मरणीय थे। निरभिमानी और अकुटिल। साहित्यिक गुटबंदियों से बहुत दूर।

मुझे उनका आशीर्वाद ही नहीं प्रेम भी मिलता था। इसी से आज भी मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूं।"

डाक्टर साहब के प्रिय 'महावीराष्टक' का और उनके स्वरचित 'वीतराग स्वरूपं' तथा 'जय महावीर नमो' का सामूहिक पाठ हुआ। श्री ज्ञानचन्द जैन ने डाक्टर साहब के चित्र पर माल्यार्पण किया और अन्त में डा० शशि कान्त ने धन्यवाद-ज्ञापन किया। ★

## श्री रमा कान्त जैन

**शोधादर्श** के सह-सम्पादक श्री रमा कान्त जैन ने १० फरवरी को ५८ वसन्त पार किये। प्राय: ४० वर्ष की यशस्वी सेवा के उपरान्त २८ फरवरी को उत्तर प्रदेश शासन की सेवान्तर्गत उप सचिव के पद से उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। साहित्य कार्य के लिए अब वह अधिक समय दे सकेंगे। **शोधादर्श** परिवार उनके स्वस्थ दीर्घ आयुष्य की भावना करता है। ★

## तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, द्वारा, **शोधादर्श** के नियमित प्रकाशन के अतिरिक्त, वर्ष १९९३-९४ में तीर्थंकर महावीर छात्र सहायता कोष से ६५ छात्र/छात्राओं को रु० १५,३९५/- की अध्ययन सहायता प्रदान की गयी, और महावीर जन कल्याण निधि से १२ असहाय विधवा महिलाओं तथा एक वृद्ध को औषधि वस्त्र आदि के लिए रु० ६२३६/- की सहायता प्रदान की गयी। ★

## छपते-छपते

१. उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री मुलायम सिंह यादव ने ९ मार्च, १९९४ को उत्तर प्रदेश विधान सभा में वर्ष १९९४-९५ का आय-व्ययक प्रस्तुत किया और घोषणा की कि अयोध्या में भगवान ऋषभदेव के नाम पर एक नेत्र चिकित्सालय को मूर्त रूप दिया जायगा। इसके पूर्व उन्होंने उत्तर प्रदेश में जुए के व्यसन को रोकने की दृष्टि से निजी लाटरियों को बंद करने के आदेश किये थे। इन सत्कार्यों के लिए **शोधादर्श** माननीय यादव जी को साधुवाद देता है।

२. दूरदर्शन और आकाशवाणी पर भगवान महावीर पर प्रसारण—
**दूरदर्शन १** पर लखनऊ केन्द्र से रविवार २४ अप्रैल को प्रात: ८.३० से ९ बजे 'सन्मति महावीर' – डा० शशि कान्त भगवान महावीर के जीवन और शिक्षाओं पर प्रकाश डालेंगे और ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन से चर्चा करेंगे।

**आकाशवाणी**, लखनऊ, पर भी २४ अप्रैलको रात्रि ८ बजे—'भगवान महावीर और उनकी विश्वमंगल भावना' पर डा. शशि कान्त की श्री सलेकचन्द जैन से बातचीत।

## बधाई

डा० लाल चन्द्र जैन, निदेशक, प्राकृत, जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, के मार्ग-दर्शन में दिसम्बर १९९२ में, डा० रामनरेश राय को 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका नियमसार' विषय पर और श्री अजय कुमार को 'जैन अंग साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' विषय पर, तथा नवम्बर १९९३ में, श्रीमती मंजुबाला को 'प्रशमरतिप्रकरण का समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई।

श्री आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश' को 'युवाचार्य महाप्रज्ञ का दर्शन : एक अनुशीलन' पर श्री दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर, ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। निर्देशक डा० नथमल टांटिया थे।

श्री जितेन्द्र बी० शाह को 'द्वादशारनयचक्र का दार्शनिक अध्ययन' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। निर्देशक डा० सागरमल जैन थे।

श्री सुरेश सिसोदिया को 'जैन धर्म के प्रमुख सम्प्रदायों की दर्शन तथा आचार समानताओं और असमानताओं के तुलनात्मक अध्ययन' पर मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। निर्देशक डा० एस० आर० व्यास थे।

डा० कमलेश कुमार जैन, प्राध्यापक, जैन दर्शन, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, को स्व० पं कैलाश चन्द शास्त्री द्वारा लिखित **जैन न्याय**, भाग २, के सफल सम्पादन हेतु उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत किया जायगा।

९ जनवरी को पी० एस० जैन फाउन्डेशन, दिल्ली, द्वारा शाल और रजतपट्टिका भेंट कर श्री यशपाल जैन, डा० नेमिचंद जैन और डा० शिवचन्द्र सिंह सेंगर का सम्मान किया गया।

१६ जनवरी को बम्बई के अहिंसा प्रचारक ट्रस्ट द्वारा दिल्ली के गुरु नानक फाउन्डेशन सभागार में डा० कस्तूरचन्द्र काशलीवाल को समर्पित भाव से दीर्घ कालीन शोध कार्य हेतु पुरस्कृत एवं सम्मानित किया गया।

७ फरवरी को हरियाणा के शिक्षा विभाग द्वारा डा० रतनलाल जैन, मुख्याध्यापक, राजकीय उच्च विद्यालय, बड़सी (भिवानी), को केन्द्र परीक्षक के

रूप में और परीक्षा में नकल रोको अभियान के सफल संचालन हेतु सम्मानित किया गया।

डा० प्रकाश चन्द्र जैन, प्रधानाध्याक, महाराज शिवाजी राव राजकीय उच्चतर प्राथमिक विद्यालय, इंदौर, को शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार प्रदान किया गया।

हिन्दीतरभाषी हिन्दी लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए श्री दिग्दर्शन लाल जैन, नई दिल्ली, को अन्तर्राष्ट्रीय कला एवं संस्कृति परिषद, नजीवाबाद, द्वारा माता कुसुमकुमारी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दीभाषी हिन्दीलेखक सम्मान प्रदान किया गया।

अरिहन्त इन्टरनेशनल, दिल्ली, द्वारा केलादेवी सुमतप्रसाद ट्रस्ट पुरस्कार १९९२ प्रो० अजय कुमार जैन, इंदौर, को उनकी पाण्डुलिपि 'जैन ज्योतिष' पर प्रदान किया गया।

उपरोक्त सभी महानुभावों को उनकी उपलब्धियों के लिए **शोधादर्श** परिवार हार्दिक बधाई प्रेषित करता है।

## शोक संवेदन

दिसम्बर १९९३ में पानीपत में वयोवृद्ध सामाजिक कार्यकर्ता ला० सुंडे लाल का ९० वर्ष की आयु में निधन हो गया। उनकी स्मृति में उनके पौत्र श्री प्रदीप जैन ने गरीब व अनाथ बच्चों की शिक्षा के लिए दो लाख रुपये से 'लाला सुंडे लाल जैन ट्रस्ट' की स्थापना की है।

उसी माह कलकत्ता में कर्मठ कार्यकर्ता श्री कमल कुमार जैन, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट, का भी परिपक्व अवस्था में निधन हो गया।

८ दिसम्बर को लखनऊ में भी ७० वर्षीय जैन साहित्यकार श्री नन्द किशोर जैन का निधन हो गया।

४ जनवरी १९९४ को कलकत्ता में ७० वर्षीय श्री गणेश ललवाणी दिवंगत हो गये। वह विगत ३० वर्षों से जैन भवन से सम्बद्ध थे और Jain Journal, तित्थयर (हिन्दी) और श्रमण (बंगला) के यशस्वी सम्पादक थे।

२५ जनवरी को सिवनी में ८८ वर्षीय सुप्रसिद्ध विद्वान पं० सुमेर चन्द्र दिवाकर का निधन हो गया।

खुरई में ७२ वर्षीय कृषि पंडित श्रीमंत सेठ ऋषभ कुमार भी दिवंगत हो गये।

उपर्युक्त सभी दिवंगत महानुभावों के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, दिवंगत आत्माओं की सद्गति और शान्ति के लिये प्रार्थना करता है और शोक संतप्त परिवारों को हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

# पाठकों की दृष्टि में

शोधादर्श का २१वां अंक प्राप्त हुआ। पत्रिका लगभग पूरी पढ़ी। ज्ञानवर्धक सामग्री पढ़ने को मिलती है। सन्तुष्टि मिलती है।

अयोध्या पर लेख विशेष रुचिकर लगा। आपके सुझाव भी बहुत ठीक है। जगह-जगह निर्माण देख कर दुःख होता है। आजकल मन्दिर जाने वालों की संख्या में कमी होती जा रही है, पर जगह-जगह नये मन्दिर बनते जा रहे हैं।

—श्रीमती राजदुलारी जैन
कानपुर

शोधादर्श पत्रिका पहली बार पढ़ने को मिली। बहुत रोचक व ज्ञानवर्धक लेखों को पढ़ने का मौका मिला।

—डा० (कु०) मीरा जैन
ग्वालियर

आपकी इस पत्रिका में जैन धर्म, संस्कृति, आचार-विचार से सम्बन्धित नवीन शोध सामग्री रहती है जिससे बहुत ज्ञानवर्धन होता है। इससे जैनधर्म के श्रमण, सन्त व सुकवियों के विषय में जानकारी मिलती है व अलग-अलग समयों के तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक स्थितियों का भी ज्ञान होता है। मैं बहुत अच्छी तरह express नहीं कर पा रही हूं पर एक-एक लेख व रचनायें बहुत ही ज्ञानवर्धक हैं।

—श्रीमती मृदुला गोयल
मेरठ

आपकी इस पत्रिका से मेरे सन ४८-४९ आदि तक के सभी घटना-चक्र स्मृति में आ गये। सन् १९४५ में परिषद के अधिवेशन पर साहित्य परिषद की शाखा के अधिवेशन के व्यवस्थापक श्रद्धेय बाबू जी, श्रद्धेय जैनेन्द्र जी व मै ये ही तीन व्यक्ति थे। प्रायः करके बाबू जी से रोज मिलता था। आप उनकी स्मृति में "शोधादर्श" बहुत ही उपयोगी व शोधपूर्ण पत्रिका निकाल रहे हैं यह गौरव की बात है।

—पं० भुवनेन्द्र कुमार जैन शास्त्री
सागर

अंक २१ में पू. गुरूवर्यका लेख "धर्म क्या सिखाता है ?" अति सामयिक है जबकि २१ वर्ष पूर्व लिखा गया। साथ ही, शोध समीक्षाएं, साहित्यिक

सम्मानादि, वैविध्य पूर्ण सामग्री से समलंकृत अंक अपने 'शोधादर्श' नाम को पूर्ण रुपेण चरितार्थ करता है।

—डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
राज्य संग्रहालय, लखनऊ

मुझे डॉ० कुसुम पटोरिया का आलेख बहुत भाया। अजित प्रसाद जी की निर्भीक लेखनी से कुछ तबके भी नाराज हैं लेकिन उनको अपना पैनापन नहीं त्यागना चाहिए। उनकी लेखनी में संयम की गरिमा भी है। शोधादर्श का स्तर उत्तरोत्तर निखर रहा है। इसकी सामग्री अनूठी होती है।

—डा० अभय प्रकाश जैन
ग्वालियर

'शोधादर्श' २० यथा-समय प्राप्त हो गया था। आभारी हूं। प्रस्तुत अंक भी ज्ञान वर्धक एवं शोधपूर्ण लेखों से युक्त है। जैन-साहित्य-शोध-क्षेत्र में पत्रिका का विशिष्ट महत्व एवं योगदान है। 'जैन कला, एक सर्वेक्षणात्मक परिचय,' 'महोपाध्याय समयसुन्दर—जीवनवृत्त', 'पवाया के प्रेक्षागृह' आदि लेख अत्यन्त महत्त्व पूर्ण हैं। 'समयसुन्दर' विषयक लेख में पृ० ४४ पर स्थान-नामों में 'अग्र-सेनपुर' नाम अशुद्ध है—'उग्रसेनपुर' होना चाहिए। शोध-रुचि वाले महानुभावों के लिए यह पत्रिका विशेष उपयोगी, पठनीय एवं संग्रहणीय है।

—वेद प्रकाश गर्ग
मुजफ्फरनगर

शोधादर्श का २१वां अंक हस्तगत हुआ। निश्चय ही यह शोध-पत्रिका अपमे नाम के अनुरुप ही कार्य कर रही है। प्राय: सभी लेख उपयोगी ज्ञानवर्द्धक सामग्री से पूर्ण हैं तथा विचारोतेजक भी।

—डा० दामोदर शास्त्री
आचार्य, कैन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

शोधादर्श प्रत्येक अंक में ज्ञानवर्धक एवं रोचक सामग्री देता है। आप और आपके सहयोगियों की कर्मठता भविष्य में भी बराबर ऐसी पठनीय सामग्री सुलभ कराती रहेगी, ऐसा विश्वास है।

—डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी
वाराणसी

उत्तम लेखो व विचारों एवं शुभ समाचार से ओत-प्रोत है। गलत कार्यो का तुरन्त संशोधन भी अवगत कराया है। यह पुस्तक सभी के मनन करने योग्य उपयोगी है।

—पं० कैलाश चन्द्र जैन 'पंचरत्न'
लखनऊ

'शोधादर्श' अपने ध्येय में कीर्तिमान स्थापित किये हुए है। जैन जगत की अतिप्राचीन से लेकर अधुनातम सुपाठ्य सामग्री पाठकों को रुचिकर जिज्ञासा बढ़ाने वाली, ज्ञानवर्द्धक, प्रेरक एवं शोधोपयोगी होती है। शोधपूर्ण, ज्ञानवर्द्धक, जिज्ञासा उत्पन्न करने वाली पठनीय, संग्रहणीय एवं शोधोपयोगी पत्रिका होने से इसके प्रत्येक अंक का पठन कर व्यक्तिगत पुस्तकालय में रखना आवश्यक समझता हूं।

आपकी सम्पादकीय निर्भीक, निष्पक्ष, प्रभावक, सटीक, प्रश्नचिन्ह अंकित करने वाली तथा समसामयिकता को समाविष्ट किये हुये होती है। इस अंक में— धर्म क्या सिखाता हैं, विचार-विमर्श, प्रतिक्रिया, श्री बाहुवली महामस्तकाभिषेक विमर्श, शीर्षक आलेख रुचिकर लगे। स्वस्थ एवं उत्कृष्ट विचारों के लिये लेखक साधुवाद के पात्र हैं।

—प्रो० शीलचन्द्र जैन
छिन्दवाड़ा

भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, संस्कृति, और अध्यात्म चेतना को श्रद्धेय डॉ० ज्योति प्रसाद जी का योगदान अभूतपूर्व-अनुपम रहा है। उनकी ज्योति को आप लोग अक्षुण्ण रखकर वस्तुत: "शोधादर्श" प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें प्रकाशित सामग्री शोध-खोज के क्षेत्र में नितान्त उपयोगी और मानक है। इससे विशेषत: श्रमण संस्कृति, साहित्य और इतिहास के अनुसन्धाताओं को प्रभूत सामग्री सहज ही उपलब्ध रही है। एतदर्थ आप अनेकशः अभिनन्दनार्ह हैं।

धर्मान्धता का जुनून पैदा करके दिगम्बर मुद्राधारी एक साधु ने देवगढ़ की श्रमण संस्कृति और इतिहास का अपने मार्गदर्शन में जो विध्वंस कराया है, उसकी ओर आपने अपने पूर्व अंकों में जो सम्पादकीय प्रकाशित किये हैं, उन्होंने समग्र वस्तु-स्थिति को उजागर किया है। उन्हीं के परिप्रेक्ष में मैंने भी विगत माह दो अन्य मान्य मनीषियों के साथ देवगढ़ की यात्रा की। वहाँ हम सभी रो पड़े। साधु लोकैषणा के वशीभूत हो रथों की होड़ लगावें और संस्कृति के विध्वंस का यह ताण्डव सामने आवे, क्या समाज का नेतृत्व इस पर गम्भीरता से चिन्तन कर कोई सार्थक पहल करेगा ? आप, श्री पाटौदी जी एवं डॉ० नेमिचन्द्र जी ने इस संदर्भ में अच्छी पहल की है। एतदर्थ आप सभी को अनेकशः साधुवाद !

—डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
सचिव, मध्य प्रदेश संस्कृत अकादेमी, भोपाल

शोधादर्श-२१ प्राप्त हुआ। पृष्ठ ६ पर, आधे पृष्ठ पर धर्म का सार बतलाने वाला आपका यह 'पत्र' रुचि की प्रभावना कर रहा है। आपको एक

'कट्टर-पंडित' की तरह सिद्धान्तों का पूरा-पूरा ज्ञान भले ही न हो, परन्तु एक भले आदमी की तरह 'आदमियत' का अद्भुत अहसास है। आपके अंकों को पढ़ कर मैंने निष्कर्ष निकाला है कि आप 'धर्म' के लिए नहीं, 'इंसानियत' के लिए कुछ लिख-पढ़-छाप रहे हैं। यदि यह सही है तो आप सफल होंगे; क्योंकि इंसा-नियत—मानवता, से बड़ा कोई धर्म नहीं है विश्व में।

—सुरेश सरल
जबलपुर

यह हर्ष का विषय है कि डा० स्व० ज्योति प्रसाद जी के द्वारा रोपित यह साहित्य-सुमन समाज को सुझावों, विद्वानों के विचारों एवं उत्तम शोध प्रबंधों के द्वारा धर्म व समाज का विशेष उपयोगी पक्ष प्रस्तुत करता है। एतदर्थ सम्पादक मंडल प्रमुख डा० शशि कान्त जी एवं श्री रमा कान्त जी बधाई के पात्र हैं।

—पन्नालाल जैन
रीवा

'शोधादर्श' आज की अनुसन्धान-पत्रिकाओं में अपना विशेष स्थान रखती है। शोध-कर्ताओं एवं शोधार्थी महानुभावों के लिए इस में अत्यन्त उपयोगी सामग्री का चयन किया होता है। शोध-लेखों के सारांश का प्रकाशन तो इसकी अनुपम विशेषता है। शोध का आदर्श प्रतिष्ठित करने वाली यह एक विरल पत्रिका है।

—डॉ० रत्नलाल जैन
हाँसी

आपके उस टिप्पण जिसमें आपने वृषभदेव का विधवा-विवाह होने की परम्परा का उल्लेख किया है— पर जो प्रतिक्रिया अन-खोजी समाज के लोगों ने की है उससे आप परिचित होंगे।

—एम० एल० जैन
रिटायर्ड जस्टिस, नई दिल्ली

मैंने भी विगत कई बार बहुत नजदीकि से देवगढ़ क्षेत्र दर्शन किये हैं जीर्णोद्धार के पूर्व एवं बाद में। इस क्षेत्र के मन्दिरों में घना अंधकार कालिख एवं मकडजाल लगा रहता था। जो जिनविम्ब जमीन पर लेटे अथवा दीवाल से तिरछे टिके रहते थे, जो अक्रम से जहाँ कहीं रखे रहते थे, मन्दिरों में प्रकाश जाने के लिए खिड़की नहीं थी, छत सिर से लगती थी, प्रवेश हेतु अत्यन्त छोटा दरवाजा मात्र एक ही रहता था, मन्दिर के चारों ओर दीवाल में पीपल आदि के पौधे उगने लगे थे, दीवालों में चिनी गई कई सौ प्रतिमायें धूप पानी हवा के थपेड़ों से पर्त छोड़कर काली पड़ गई थीं, मन्दिरों तक जाने के लिए ऊबड़-खाबड़

रास्ता था। कुन्दन लाल जी को तो मैं नहीं जानता पर भागेन्दु जी से परिचित हूं, उन्हें भी पत्र लिख रहा हूं कि मात्र आपकी आखों ने विध्वंस ही देखा है अथवा नव निर्माण भी जो सही है।

मैंने देखा है कि अन्धकार को दूर करने के लिए प्रत्येक मंदिर में २-३ खिड़कियां, डबल दरवाजे, मन्दिर का फर्श नीचे उखड़कर खम्बों के चारों तरफ १/२ फुट की चौकोर बैठक, छतों की रिपेयरिंग, लाईट की स्थाई व्यवस्था एवं प्राचीन पद्धति से आगमिक नाभि से ऊपर देशी पत्थर की वेदियां बनाई गई हैं उन पर जिन बिम्ब विराजमान कराये हैं। प्रायःकर मूर्तियों के जयपुर के कुशल कारीगरों से जिन मूर्तियों को दीवाल के दोनों तरफ चिनवा दिया था तथा जो कुछ सुधारकर वेदी पर विराजमान की जा सकती हैं उन्हें उनमें से निकाल कर नाक अथवा लिंग को उसी में से उभार कर प्रतिष्ठित किया गया है, न कि अखण्डित प्रतिमाओं को। हजारों हजार नर नारियों के तीर्थ क्षेत्र का जीर्णोद्धार देखकर खुशी के आंसू मैंने स्वयं देखे हैं प्रतिष्ठा के समय। जो पहले मात्र देखने योग्य थी वही आज पूजने योग्य हो गई हैं। हो सकता है इतने विशाल कार्य करने में किसी प्रकार की त्रुटि (कमी) रह गई हो, मूर्तिकार कोई-कोई प्राचीनता को साकार रूप नहीं दे पाया हो परन्तु उसकी समीचीन समीक्षा का होना वाजिब है। खेद इस बात का है कि अभी तक किसी निष्पक्ष व्यक्ति ने इसकी वस्तु-स्थिति समाज के सामने नहीं रखी है।

—ब्र० जिनेन्द्र कुमार जैन<br>
श्री वर्णी दि० जैन गुरुकुल, पिसनहारी की मढ़िया<br>
जबलपुर

Thanks for Nov. 93 issue of Shodhadarsh. Calukya history based on **Jaina sources by Dr. K. P. Gupta, Aristnemi** & Krishna by Mrs. Kusum Patoria & gist of researches on Jainism are important articles that I would like to put into English for Jinamanjari.

—S. A. Bhuvanendra Kumar<br>
Ontario, Canada

हमने शोधादर्श-२१ का आद्योपान्त गहन अध्ययन किया। सर्व प्रथम 'शोधादर्श' के सम्पादक एवं प्रकाशक इस निर्णय के लिए बधाई के पात्र हैं कि इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन के पुराने लेख प्रकाशित कर आज की पीढ़ी को उनके स्वतंत्र एवं सारगभित विचारों से लाभान्वित करा रहे हैं। उक्त अंक में 'धर्म क्या सिखाता है' नामक लेख हम लोगों को बहुत पसंद आया। लेख यथार्थ परक है। साम्प्रदायिकता से ग्रस्त लोगों को झंझोरने वाला है। डा० सा०

का यह कथन कि "मनुष्य ने धर्म को भी अपने स्वार्थ–साधन का अस्त्र बना लिया है। ··· निहित स्वार्थों के हाथ का खिलौना बन कर धर्म निर्जीव बन गया। ···जो धर्म अनेकता या फूट सिखाता है वह धर्म ही नहीं है।" बहुत ही सटीक है।

–डा० लालचन्द्र जैन व श्रीमती जैनमती जैन
प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

## इस अंक के लेखक

**श्री अजित प्रसाद जैन** : सेवा-निवृत्त उप सचिव, उ० प्र० शासन
मंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६००४

**श्री एम० एल० जैन** : अवकाश-प्राप्त न्यायमूर्ति,
२१५, मन्दाकिनी एन्क्लेव, अलकनन्दा,
नई दिल्ली-११००१९

**डा० केशव प्रसाद गुप्त** : व्याख्याता, आदर्श ग्रामसभा इन्टर कालेज,
चरवा, जिला इलाहाबाद-२१२२०३

**डा० कृष्ण पाल त्रिपाठी** : ग्राम-पोस्ट बलीपुर टाटा, जि० इलाहाबाद-२१२२०३

**श्रीमती जैनमती जैन** : अनुसन्धात्री, प्राकृत, जैन शास्त्र और अहिंसा शोध
संस्थान, वैशाली-८४४१२८

**डा० ज्योति प्रसाद जैन (स्व.)** : विश्व-विश्रुत विद्वान

**श्री रमा कान्त जैन** : सेवा-निवृत्त उप सचिव, उ० प्र० शासन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

**श्री रामजीत जैन, एडवोकेट** : टकसाल गली, दाना ओली,
लश्कर, ग्वालियर-४७४००१

**श्री वेद प्रकाश गर्ग** : १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर-२५१००२

**डा० शशि कान्त** : सेवा-निवृत्त विशेष सचिव, उ० प्र० शासन
ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

**डा० शिव प्रसाद** : रिसर्च एसोसियेट, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
द्वारा श्री त्रिलोकी नाथ, चौक, रामनगर,
वाराणसी-२२१००८

**डा० हुकुम चन्द्र जैन भारिल्ल** : सम्पादक, वीतराग विज्ञान
श्री टोडरमल स्मारक भवन,
ए-४, बापू नगर, जयपुर-३०२०१५

(स्थानाभाव के कारण **समण सुत्तं** का हिन्दी पद्यानुवाद और English Jain Gazette से पुनर्प्रकाशन इस अंक में भी नहीं दिये जा सके, जिसका खेद है।–सं.)

( कवर पृष्ठ २ का शेष )


| | | |
|---|---|---|
| १६. | इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन —स्मरण | ६४ |
| १७. | श्री रमाकान्त जैन —अभिनन्दन | ६६ |
| १८. | तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र. —१६६३-६४ | ६६ |
| १६. | छपते-छपते —उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री के अभिनन्दनीय कार्य दूरदर्शन और आकाशवाणी पर भगवान महावीर पर प्रसारण | ६६ |
| २०. | बधाई | ६७ |
| २१. | शोक संवेदन | ६८ |
| २२. | पाठकों की दृष्टि में | ६६ |
| २३. | इस अंक के लेखक | १०४ |



मूल्य प्रति—१० रु०

वार्षिक—२५ रु०

आजीवन—२५० रु०


## निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति एवं सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्‌बोधन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

—सम्पादक मण्डल

## आवश्यक सूचना

**शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।**

**शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किया जाना चाहिए। लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

**शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियां भेजी जायें।**

**शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु शोधादर्श का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।**

**प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक प्रबन्ध सम्पादक को 'पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।**

**—प्रबन्ध सम्पादक**

## उपयोगी साहित्य

**तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०, लखनऊ के प्रकाशन—**

1. भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ—सम्पादक डा० ज्योतिप्रसाद जैन Rs. 50/-
2. आदितीर्थ अयोध्या— ले० डा० ज्योतिप्रसाद जैन 10/-
3. Bhagwan Mahavira : Life, Times & Teachings by Dr. Jyoti Prasad Jain 10/-
4. Way to Health & Happiness–Vegetarianism by Dr. Jyoti Prasad Jain 4/-
5. Mysteries of Life and Eternal Bliss by Prof. Anant Prasad Jain 7.50
6. जीवन रहस्य एवं कर्म रहस्य— ले० प्रो० अनन्त प्रसाद जैन . 7.50

## विशेष सूचना

**इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि डा. ज्योति प्रसाद जैन की—**

जैन ज्योति : ऐतिहासिक व्यक्तिकोश, प्रथम खण्ड (अ से अं) Rs. 50/-

The Jaina Sources of the History of Ancient India

Religion and Culture of the Jains

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि

प्रमुख जैन ऐतिहासिक पुरुष और महिलायें

तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग

**तथा डा. शशि कान्त की—**

Political and Cultural History of Mid-North India Rs. 175/-

The Hathi-Gumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka–A Critical Study (2nd Enlarged Ed.)

प्राप्ति स्थान :

**ज्ञानदीप प्रकाशन**

**ज्योति निकुंज, चारबाग,**

**लखनऊ–२२६ ००४**

---

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ–४ (उ०प्र०)